

ADITI

1948

G.K.V.

071097

1000000

Stock Verification-2004

Stock Verification-2004

अदिति

COMPILED

079099

भोअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका



079099



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम,
पांडिचेरी

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नयी देहली

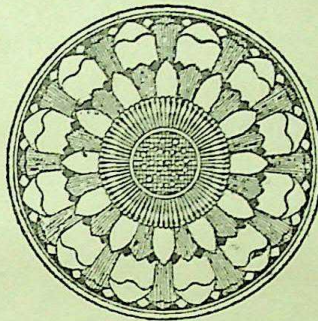
मूल्य
एक अङ्क १॥)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३॥ शिलिंग वार्षिक १२॥ शिलिंग

अदिति

तेईसवीं कला

१५ अगस्त १९४८ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

ग्राहकों से—

१. जो ग्राहक दर्शन पर आ रहे हों और यदि वे दर्शन के समय अपनी अदिति की प्रति स्वयं पांडिचेरी में ही प्राप्त करना चाहते हों वे कृपया दर्शन से ४-५ दिन पहले हमें सूचित कर दिया करें। उनकी प्रति तब रोक ली जायगी।

२. अदिति का चन्दा भेजते समय मनीआर्डर के कूपन पर अपना पता साफ-साफ लिखकर जरूर भेजें।

३. पत्रव्यवहार में अपनी ग्राहक-संख्या यथासंभव लिखने की कृपा करें तथा उत्तर के लिये डाक-व्यय (टिकट) भी भेजें।

४. अदिति के अंक हमेशा 'सरटिफिकेट ऑफ पोस्टिंग' के अधीन भेजे जाते हैं। यदि कोई ग्राहक रजिस्ट्री द्वारा मंगाना चाहें तो वे उचित डाकव्यय भेज दें।

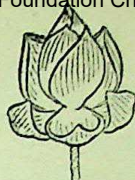
प्रति प्राप्त न होने की दशा में दूसरी प्रति देनी सामान्यतया संभव नहीं होती।

—प्रबंधक 'अदिति'

Le Directeur : Haradhan Bakshi

Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.

284-48-700



अदिति, अगस्त १९४८

हिरण्यः पुरुषः (चित्र)	...	...
श्रीअरविन्द के प्रति (कविता)	श्री सुमित्रानन्दन पंत	१४१
मातृवचनामृत--	...	...
प्रार्थना और ध्यान	...	१४३
आत्म-निर्भरता	...	१४४
श्रीअरविन्द-वाणी--	...	...
विशेष प्रेरणा	...	१४८
ईशोपनिषद्-ईश	...	१४९
श्रीअरविन्द के पत्र-भगवत्प्राप्ति के विभिन्न पथ	...	१५७
मैं दूँ ?	श्री गिरधरलाल	१६०
श्रीअरविन्द का योग-समन्वय-परम इच्छाशक्ति	...	१६१
जीवन्मुक्त	...	१६८
विविध--	...	...
प्रकाश की ओर	श्री नलिनीकान्त गुप्त	१७०
श्रीअरविन्द	श्री रोमं रोलां	१७१
नैतिक नियम और दिव्य विधान	श्री एन. एन. कौल	१७४
दर्शन	डा. श्रीनिवास आर्यंगर	१७५
तेरी कृपा	श्री रजनीकान्त मोदी	१७९
श्रीअरविन्द के दर्शन	...	१८०
संकलन	...	१८१
श्रीअरविन्द आश्रम	डा. इन्द्रसेन	१८३
जिज्ञासुओं की सेवा में	श्री अभय	१८७
कविता-कुंज--	...	...
अग्नि	श्री सुमित्रानन्दन पंत	१९०
प्यासे मेरी देहपुरी के देव	श्री विद्याव्रत	१९१
अवतार	श्री रघुवीरशरण	१९२
श्रीअरविन्द-दर्शन	डा. इन्द्रसेन	१९३
हे कृष्ण !	श्री शिवराम कृष्णन्	१९८
संपादकीय (विचार और अभीप्सा)	डा. इन्द्रसेन	१९९
आध्यात्मिक क्रान्ति	...	...
स्वाधीनता का एक वर्ष	...	...
साहित्य-परिचय	...	२०५

चुने हुए फूल

मिथ्यात्व इस लोक में निरंतर सत्य का सेवक एवं मार्गान्वेषक है।

*

मिथ्यात्व वस्तुतः अर्द्ध-सत्य है जो अपनी सीमाओं के कारण लड़खड़ाता है।

*

ज्ञान को विचार और वाणी की परिभाषाओं में सफलतापूर्वक व्यक्त नहीं किया जा सकता।

*

मनुष्य में आत्मोपलब्धि के लिये प्रकृति का अविच्छेद्य आवेग है।

*

जीवन में भगवान् को चरितार्थ करना मनुष्य का मनुष्यत्व है।

*

जो कुछ करने के लिये मनुष्य सतत संकल्प करता है उसे करने में वह अंत में समर्थ भी हो जायगा।

*

सच्चे सामंजस्य को विकसित करने के लिये एक दूसरे को स्वीकार करना होता है, जिससे कि किसी न किसी प्रकार की घनिष्ठ एकता पैदा हो जाती है।

*

नीरवता संसार का वर्जन नहीं करती; वह इसे धारण करती है।

*

पूर्ण मनुष्य में नीरवता और सक्रियता दोनों होंगी।

*

ब्रह्म इतना स्वाधीन है कि वह अपनी स्वाधीनता से भी वद्ध नहीं।

*

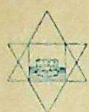
ब्रह्म, वास्तविक बंधन में पड़े बिना, वद्ध होने का खेल कर सकता है।

*

प्रकृति जो काम करती है उसमें रस लेती है—यह उसका विधान है।

*

श्रद्धा मनुष्य के लिये अपरिहार्य है, क्योंकि इसके बिना वह 'अज्ञात' में की अपनी यात्रा में आगे न बढ़ सकता; परंतु यह श्रद्धा बाहर से आरोपित नहीं होनी चाहिये, यह स्वतंत्र बोध के रूप में या अन्तरात्मा से प्राप्त अलंघ्य आदेश के रूप में उद्भूत होनी चाहिये।



जगत् की वर्तमान दशा

तुम्हारे उन पत्र-संवादियों को, जो जगत् की वर्तमान दशा के बारे में दुःख-शोक मान रहे हैं, मैं कम से कम तत्काल के लिये तो विशेष आश्वासन नहीं दे सकता। दशा जरूर बुरी है, अधिक बुरी होती जा रही है और किसी भी समय अत्यंत बुरी हो सकती है अथवा, यदि यह संभव है तो, अत्यंत बुरी से भी बुरी हो सकती है—और कुछ भी बात, कैसी असंभव-सी ही वह क्यों न हो, वर्तमान विक्षुब्ध जगत् में संभव प्रतीत होती है। तुम्हारे पत्र-संवादियों के लिये सबसे अच्छा यह होगा कि वे अनुभव कर सकें कि यह सब कुछ अनिवार्य था। यदि एक नए और अधिक अच्छे जगत् को अवश्य ही जन्म लेना था तो कई संभावनाओं को प्रकट होना था, और प्रकट होकर दूर होना था, और इस सबको भविष्य में किसी समय के लिये रोके रखना ठीक न रहता। यह ऐसा ही है जैसा योग में होता है—व्यक्तित्व की सक्रिय या प्रसुप्त वृत्तियों को प्रकाश में क्रियान्वित किया जाता है जिससे उनका मुकाबला किया जा सके तथा उन्हें दूर किया जा सके अथवा गहरी प्रसुप्त अवस्था में से उन्हें स्वयं उस पवित्रीकरण के लिये ऊपर आना होता है। तुम्हारे पत्र-संवादी यह उक्ति भी ध्यान में रख सकते हैं कि उषा से पहले की रात्रि घोरतम काली होती है अथवा यह कि उषा का आना अवश्यंभावी है। पर उन्हें यह भी याद रखना होगा कि जिस नए जगत् के आने की हम कल्पना करते हैं वह उसी पुराने जगत् के ताने-बाने से बना हुआ तथा केवल तमूने में ही भिन्न नहीं होगा। वह वास्तव में दूसरे साधनों द्वारा अंदर से आवेगा न कि बाहर से। इसलिये सबसे अच्छा यह होगा कि बाहर जो दुःखजनक घटनाएं हो रही हैं उनकी मनुष्य विशेष चिंता न करे, बल्कि वह स्वयं अपना अन्तर्विकास साधित करे जिससे वह उस नए जगत् के लिये—जो चाहे कैसे भी रूपवाला क्यों न हो—तैयार रहे।

१८ जुलाई, १९४८

— श्रीअरविन्द

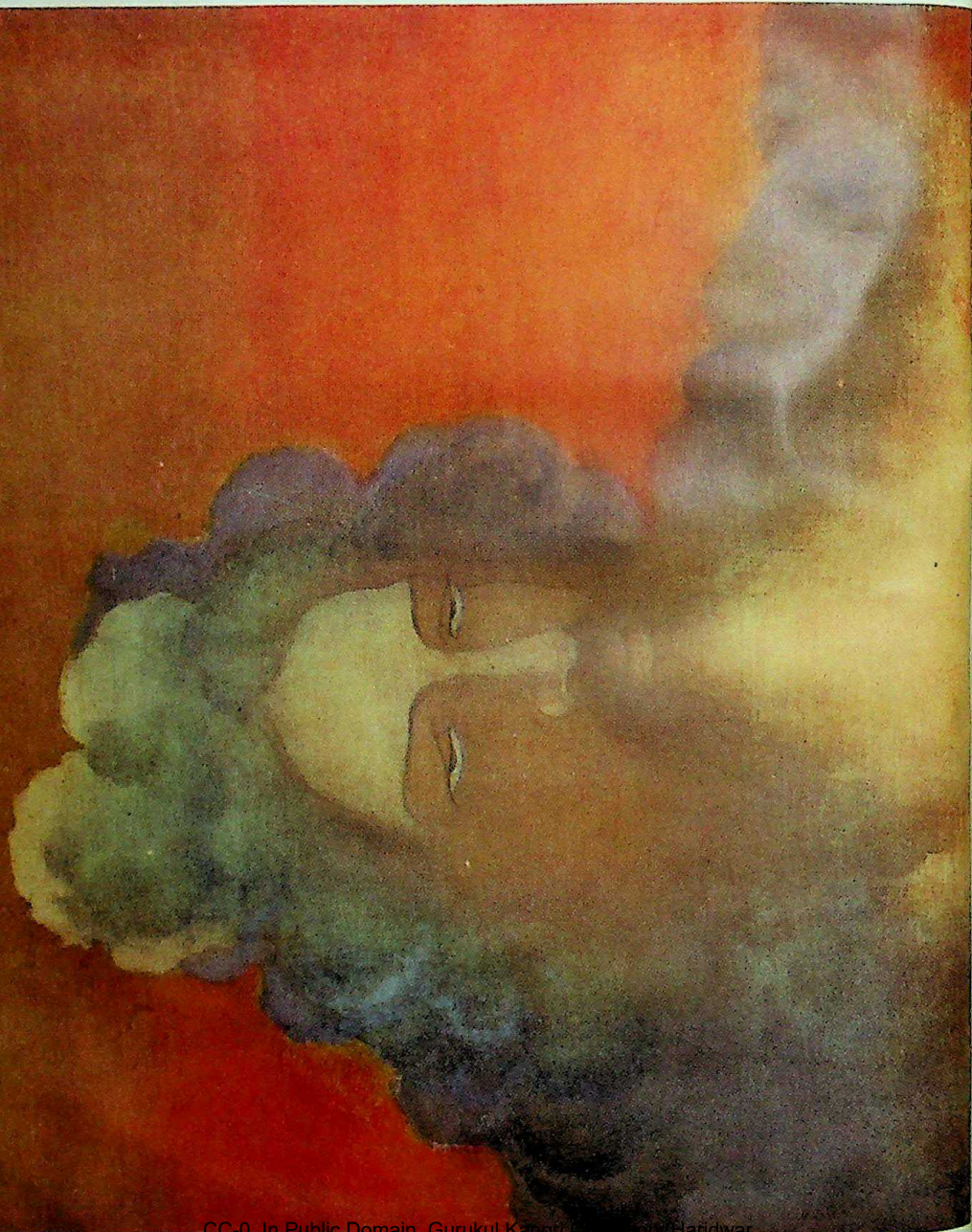
THE GOLDEN PURUSA

‘हिरण्यः पुरुषः’

BY KRISHNALAL

कृष्णलाल

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



THE GOLDEN PURUSA

BY

BY

BY

श्रीअरविन्द के प्रति

१

आज जब कि नीरस, असार, विश्वी लगता जग जीवन,
जीवन का सौन्दर्य फूल सा मुरझा रहा सुरभि क्षण;
बिखर गया जब उर का सतरंग बुद्बुद् स्वप्न अचानक,
जीवन संघर्षण से लोहित गए मर्त्य के पग थक !
आज युगों की नैतिकता जब करती जन मन शोषण,
क्षुद् अहं की दासी बन, स्वार्थों को किए समर्पण;
अंतर्विश्वासों के उन्नत शृंग गए डह भू पर,
सूख गया चिर स्रोत प्रेरणा का, उर हुआ अनुर्वर !
आज जब कि मन प्राण इंद्रियों के क्षत विक्षत अँग अँग,
पुनः चाहतीं वे गति लय में बँधना देवों के संग;
ध्वंस भ्रंश हो गए विगत आदर्शों के जब खंडहर,
कुचल रहा मानव आत्मा को जड़ भौतिक आडंबर !
आज जब कि बुझ गई चेतना, अंधकार से उर भर,
चूर्ण हो गया हृदय सभ्यता का, नीरव संस्कृति स्वर;—

२

तुम्हें पुकार रहा तब अंतर, भावी मानव ईश्वर,
नव्य चेतना, नव मन, नव जीवन का भू को दो वर !
स्वर्ण ज्वाल के सदय जलद तुम, रजत तड़ित रुचि स्पंदित,
रत्नच्छाया स्मित रहस्य प्रभ शत शत सुरधनु मंडित,
दिव्य प्रेरणाओं की जगमग किरणों से चिर गुंफित
ज्योति पंख में ज्वलित अमर पिंडों को किए तिरोहित,—
स्वर्मानस से उठ, उतरो, प्रभु, जनमन के शिखरों पर
सूक्ष्म चेतना वाष्प कणों में लिपटा मानव अंतर;
नव जीवन सौन्दर्य में बरस, करो धरामुख सस्मित,
अमृत चेतना के प्लावन में मर्त्य शोक कर मज्जित !
हे अतिचेतन, नव मानस वसनों में हो नव भूषित
नव आदर्श बनो तुम, नव जीवन हो जिसमें बिम्बित !
जीवन मन से ऊपर, तुम नव जीवन में, नव मन में
मानवता को बाँधो अभिनव ऐक्य मुक्ति बंधन में !

—सुमित्रानंदन पंत



मातृवच

व

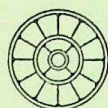
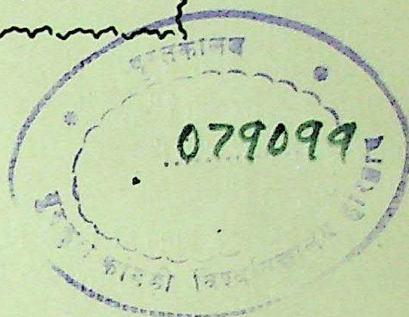
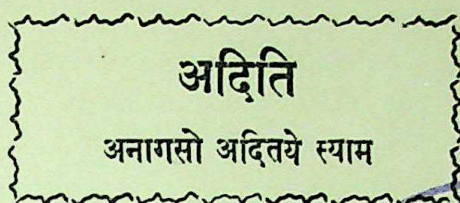
व

प्र

भ

व

079099



मातृवचनामृत-

प्रार्थना और ध्यान

जो होना चाहिये वही होगा, जो किया जाना चाहिये वही किया जायगा

प्रभु, तूने किस अचल विश्वास को मेरी सत्ता में प्रतिष्ठित किया है। वह कौन है—अथवा वह क्या है—जो तुझे अभिव्यक्त करेगा; यह अभी कौन कह सकता है?..... उस प्रत्येक वस्तु में तेरा निवास है जो किसी नवीन, पूर्णतर और उच्चतर अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्नशील है। पर प्रकाश का वह केन्द्र अभी प्रकट नहीं हुआ, क्योंकि अभिव्यक्ति का केन्द्र भी अभी संपूर्णतया प्रस्तुत नहीं है।

ओ दिव्य स्वामी, जो होना चाहिये वही होगा और वह शायद सबकी आशाओं से बहुत भिन्न होगा।

किंतु मौन जगत् के उन रहस्यों को कैसे व्यक्त किया जाय ?

यह सामने ही है वह परम शक्ति; उसी में सन्निविष्ट है मेरी आत्मा।

कब और कैसे यह शक्ति का स्रोत बाहर की ओर प्रवाहित होगा ?

कब तुझे निश्चय होगा कि यह यंत्र अब तैयार है।

कितना माधुर्य है तेरे अचल विश्वास में, कितना बल है तेरी शांति में.....

२२ जून, १९१४

—श्री माताजी

आत्म-निर्भरता

प्राचीन समय के अरबनिवासियों में हातिमताई अपनी उदारता और दानशीलता के लिये बहुत प्रसिद्ध था।

एक बार उसके मित्रों ने उससे पूछा, “क्या तुम कभी ऐसे आदमी से भी मिले हो जो तुमसे अधिक उदार हो?”

उसने उत्तर दिया, “हां।”

“वह कौन है?”

“एक बार मैंने एक दावत दी जिसके लिये चालीस अंठ हलाल किये गये थे। जो चाहे इस दावत में शरीक हो सकता था। मैं अपने कुछ सरदारों को लेकर दूर के मेहमानों को आमंत्रित करने चला। रास्ते में मुझे एक लकड़हारा मिला जो एक कांटेदार झाड़ी की लकड़ियां काटना समाप्त कर चुका था। उसकी जीविका का साधन यही था, उसे गरीब देख मैंने उससे पूछा—हातिमताई इतनी दावतें देता है, तुम उन्हीं में क्यों नहीं जाते? उसने उत्तर में कहा—जो अपनी रोटी आप कमाते हैं, उनको हातिमताई की दरिया-दिली की आवश्यकता नहीं।”

हातिमताई ने ऐसा क्यों कहा कि वह लकड़हारा उससे अच्छा मनुष्य है?

दूसरों को भेंट-स्वरूप कुछ दे देने से स्वयं काम करके अपनी जरूरतों को पूरा कर लेना उसे कहीं अच्छा लगा। क्योंकि लेनेवाले को इसमें न तो परिश्रम करना पड़ता है और न वह उसके लिये कोई त्याग ही करता है। इतना ही नहीं वरन् यह कार्य औरों को भी दूसरों पर निर्भर रहने का पाठ पढ़ाता है।

हां, यह तो स्वाभाविक ही है कि एक मित्र दूसरे मित्र को उपहार देता है। यह भी ठीक है कि बलवान् बाहुओं को दीन और दुःखी मनुष्यों की सहायता के लिये बढ़ना चाहिये। पर एक सबल और चुस्त मनुष्य को अपने हाथ से ही काम करना उचित है, दान लेने के लिये दूसरों के आगे हाथ पसारना ठीक नहीं। हां, जो लोग अपना जीवन सत्य की खोज और गंभीर चिन्तन में ही व्यतीत करते हों उनकी बात अलग है। वे निःसंकोच दूसरों का दान ग्रहण कर सकते हैं।

लकड़हारे का चरित्र कितना भी भला हों पर फारस के राजकुमार गुस्तास्प का उससे भी महान् है। उसकी कहानी यों है।

प्राचीन समय में गुस्तास्प नाम का एक राजकुमार था। उसके पिता ने उसे राजसिंहासन से वंचित कर दिया। इससे वह बहुत दुःखी हुआ और अपनी जन्मभूमि छोड़ पश्चिम की ओर चल पड़ा। अकेला और भूखा प्यासा गुस्तास्प समझ गया कि जीवन के लिये उसे अपने बाहुबल पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। जिस देश में पहुंचा वहां के मुखिया के

पास जाकर उसने कहा—मैं एक होशियार लेखक हूँ, आप कृपा करके मुझे किसी मुंशी के पद पर नियुक्त कर दें। मुखिया को उस समय किसी लेखक की जरूरत नहीं थी, इसलिए गुस्तास्प से उसने कुछ दिन ठहरने को कहा। पर वह इतना भूखा था कि प्रतीक्षा करना उसके लिये संभव नहीं था। वहाँ से चलकर वह कुछ ऊँटवालों के पास गया और उनसे किसी काम के लिये प्रार्थना की। उनको भी किसी नये आदमी की जरूरत नहीं थी। पर उसकी दरिद्रता और लाचारी देखकर उन्होंने उसे कुछ खाने को दे दिया।

थोड़ी दूर आगे चलकर गुस्तास्प एक लुहार की दूकान के सामने ठहर गया और लुहार से कुछ काम मांगा।

लुहार ने कहा—आओ, तुम मुझे इस लोहे के पीटने में सहायता दे सकते हो। यह कह उसने एक हथौड़ा गुस्तास्प के हाथ में थमा दिया।

राजकुमार में बड़ा बल था; उसने वह भारी हथौड़ा उठा लिया और ऐसा जमाया कि पहली चोट में ही अहरन के दो टुकड़े हो गये। गुस्से में भरे हुए लुहार ने उसी समय उसे दरवाजे का रास्ता दिखा दिया।

अत्यंत गंभीर व्यथा और शोक में डूबा हुआ गुस्तास्प फिर काम की खोज में निकल पड़ा। जिस तरफ वह जाता अनुपयोगी ही साबित होता। अन्त में वह एक किसान से मिला जो एक अनाज के खेत में काम कर रहा था। उसे गुस्तास्प की अवस्था पर दया आयी और उसने उसके रहने और खाने पीने का प्रबन्ध कर दिया।

एक दिन यह खबर फैली कि रुम के राजा की लड़की विवाह-योग्य हो गयी है। राजवंश के सब युवक उस उत्सव में आमंत्रित किये गये। गुस्तास्प ने भी वहाँ जाने का निश्चय किया। सबके बीच वह भी मेज के सामने जा बैठा। राजकुमारी किताबन ने उसे देखा और वह उसपर रीझ गयी। अपने अनुराग के चिह्नस्वरूप गुलाब के फूलों का एक गुच्छा उसने उसे भेंट में दिया।

राजा ने गुस्तास्प की दरिद्रता के प्रति तीव्र अरुचि प्रकट की पर वह उससे अपनी लड़की की शादी रोक देने का साहस नहीं कर सकता था। ज्योंही उनका व्याह हो चुका उसने उनको अपने महल से निकाल दिया। वे दोनों जंगल में रहने के लिये चल पड़े। वहाँ उन्होंने नदी के पास ही अपने लिये एक झोंपड़ी बना ली।

गुस्तास्प बड़ा अच्छा शिकारी था। प्रतिदिन वह नाव द्वारा नदी पार जाता और वहाँ से कभी बारहसिंगा और कभी जंगली गदहा पकड़ लाता। अपने शिकार में से आधा वह नाववाले को देता और बाकी अपनी स्त्री के पास ले आता।

एक दिन नाववाला मावरीन नाम के एक युवक को अपने साथ ले आया। वह गुस्तास्प से मिलना चाहता था। मावरीन बोला—मैं राजा की दूसरी लड़की—तुम्हारी स्त्री की छोटी बहन—से ब्याह करना चाहता हूँ। राजा के देश में एक भेड़िया बहुत उपद्रव करता है। जब तक मैं उसे मार न दूँ उस लड़की से मेरी शादी नहीं हो सकती। मुझे समझ म नहीं आता कि मैं यह कैसे करूँ।

शिकारी गुस्तास्प ने उत्तर दिया—तुम्हारे लिये यह काम मैं कर दूंगा।

वह जंगल की ओर चल पड़ा। ज्योंही उसने भेड़िये को देखा, दो तीर उसको मारे और फिर अपने शिकारी चाकू से उसका सिर काट लिया।

राजा मरे हुए जानवर को देखने आया और उसने प्रसन्नतापूर्वक अपनी दूसरी लड़की मावरीन को दे दी।

कुछ दिन बाद नाववाला एक और युवक को गुस्तास्प के पास ले आया, इसका नाम था अह्रुन। यह राजा की तीसरी लड़की को व्याहता चाहता था। परंतु इससे पहले उसे एक अजगर को मारना था। गुस्तास्प ने इस नए दुष्कर कार्य को करने के लिये उसे भी वचन दे दिया।

उसने चाकुओं की एक गेंद बनायी, उसके चारों ओर पैनी कीलें जड़ी हुई थीं। अब वह अजगर की खोज में निकला। जंगल में जाकर गुस्तास्प ने देखा कि अजगर की सांसों में से आग निकल रही है। उसने उसकी देह में बहुत से तीर मारे, स्वयं उसके पंजे से बचने के लिये वह इधर उधर कूद जाता था। तभी उसने एक बरछी के सिरे पर वह चाकुओं की गेंद लगायी और उसको अजगर के खुले मुंह में घुसेड़ दिया। उसने अपना मुंह बंद कर लिया और वह गिर पड़ा। तब राजकुमार ने अपनी तलवार से उसका काम तमाम कर दिया।

इस तरह से अह्रुन को राजा की तीसरी लड़की मिल गयी।

तुम्हें यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि शीघ्र ही यह वीर राजकुमार उत्तराधिकारी के रूप में फारस का राजा बन गया। गुस्तास्प के राज्यकाल में ही जरदुश्त या जोरोस्टर नाम के पारसी संत हुए थे। इन्होंने फारसवासियों को अहुर्मज्द का धर्म सिखाया था। अहुर्मज्द प्रकाश, सूर्य और अग्नि, सच्चाई और न्याय का प्रभु माना जाता है।

★

★

यह तो तुमने देख ही लिया है कि गुस्तास्प को संसार में न तो एकवारगी स्थान मिला और न काम ही। उसने कई कामों के लिये प्रयत्न किया और विफलता ही पायी। यही नहीं, शुरू में तो वह कई लोगों की नाराजगी का कारण बना—जैसे उस भले लुहार की। अन्त में उसको अपना पद प्राप्त हो गया और इस तरह वह प्रजाओं पर बुद्धिमानों से शासन करके उनकी सहायता कर सकने में समर्थ हुआ।

जिस लकड़हारे के बारे में हम अभी कह चुके हैं उससे वह इसी बात में श्रेष्ठ था क्योंकि इसने दूसरों की सहायता की थी, जब कि वह लकड़हारा केवल अपने लिये काम करता था। गुस्तास्प उदार हातिमताई से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी तरह अपना अतिरिक्त धन दे देने के स्थान पर फारस के राजकुमार ने अपना बाहुबल दिया और दूसरों की भलाई के लिये अपने प्राण तक खतरे में डाल दिये।

जो मनुष्य अपने ऊपर निर्भर रहकर, अपनी शक्ति से, न केवल अपनी आवश्यकताओं को पूरी करता है पर अपने पड़ोसियों की समृद्धि और भलाई की भी साथ साथ वृद्धि करता है, वह जितना सम्मान के योग्य है उतना और कोई नहीं।

जो अपने कार्यों से अपने पड़ोसियों के आराम और समृद्धि के कारण बनते हैं उन सबके आगे हम नतमस्तक हैं, चाहे वह धर्माचार्य हो, इंजीनियर हो या लकड़हारा, लेखक हो या मजदूर, व्यवसायी, लुहार, अनुसंधायक—कोई भी हो। हम उस कर्मी का भी आदर करते हैं जो अपने और साथ ही अपने साथियों के लाभ के लिये साझे के कारखाने, दुकानें, कंपनियाँ और सिंडीकेट चलाता है और प्रत्येक को अपने अधिकारों की माँग पेश करने का अवसर देता है। इस प्रकार एक अकेले व्यक्ति की दुर्बल और प्रार्थक आवाज के स्थान पर समूह की शक्तिशाली आवाज सुनायी पड़ती है।

ऐसे कारवारी साझेदार इस प्रकार श्रमजीवियों को अपनी शक्ति पर भरोसा रखना और एक दूसरे की सहायता करना भी सिखाते हैं।

विद्यार्थियो ! तुम भी अध्यापक द्वारा दिये हुए काम में अपनी बुद्धि को लगाकर उसे बढ़ाना सीखो। ज्ञान की सीढ़ी के ऊँचे से ऊँचे डंडे पर चढ़ते हुए तुम सदा अपने ऐसे साथी की सहायता करने का अवसर खोजो जो तुमसे कम होशियार और तेज हो।

परियों की कहानियों में केवल एक नाम ले लेने, लैप को रगड़ देने, लकड़ी को घुमा देने से भूत प्रेत प्रकट हो जाते हैं। वे मनुष्यों को हवा में उड़ा ले जाते हैं, पलक मारते महल खड़े कर देते, जमीन में से घुड़सवारों और हाथियों की सेना निकाल देते हैं।

परंतु निजी प्रयत्न इनसे भी बड़े चमत्कार उत्पन्न करता है। यह पृथ्वी को उत्तम शस्य से ढक देता है, जंगली जानवरों को वश में कर लेता है, पर्वतों को भेद देता है, बांधों और पुलों का निर्माण करता है, जल में जहाज को तथा आकाश में उड़नेवाले वायुयान को गति देता है : सबकी भलाई तथा सुरक्षा के इतने साधन उपस्थित करता है।

इसी प्रयत्न के द्वारा मनुष्य अधिक सज्जन, अधिक योग्य और अधिक दयाशील बनता है। सच्ची उन्नति वास्तव में इसी में है।

(श्री माताजी की Belles Histoires से लीलावती द्वारा अनूदित)





श्रीअरविन्द-वाणी-

विशेष प्रेरणा

देश-विभाजन के संबंध में योग्य भावना

यह आशा करनी चाहिये कि इस तै किये गये विभाजन को ऐसा नहीं मान लिया जायगा कि यह सदा के लिये निर्णीत हो गया है या यह कि यह एक अस्थायी उपाय से अधिक, अतिरिक्त कुछ है। क्योंकि यदि यह कायम रहे तो भारत भयानक रूप में दुर्बल हो सकता है यहां तक कि अपंग हो सकता है; गृहकलह सदा ही संभव रह सकता है, नया आक्रमण और विदेशी राज्य हो जाना तक संभव हो सकता है। भारत की आन्तरिक उन्नति और समृद्धि रुक सकती है, राष्ट्रों के बीच उसकी स्थिति दुर्बल हो सकती है, उसकी भवितव्यता कुंठित हो सकती है, यहां तक कि खण्डित हो सकती है। यह सब कुछ नहीं होना चाहिये; देश का विभाजन हटना ही चाहिये। हम आशा करते हैं कि यह कार्य स्वाभाविक रूप से संपन्न हो जायगा, न केवल शांति और मेल मिलान की किंतु मिलजुलकर काम करने की भी आवश्यकता को उत्तरोत्तर समझ लेने के द्वारा, मिलजुलकर काम करने के अभ्यास और उसके लिये साधनों को उत्पन्न कर लेने के द्वारा। इस प्रकार अन्त में एकता किसी न किसी रूप में संपादित होनी संभव है—उस एकता के अपने रूप का संभवतः व्यावहारिक महत्त्व ही होगा, कोई आधारभूत महत्त्व नहीं। परन्तु चाहे किसी भी उपाय से हो, चाहे किसी भी प्रकार से हो, विभाजन अवश्य ही हटना चाहिये, एकता अवश्य ही स्थापित होनी चाहिये और होगी, क्योंकि भारत के भविष्य की महत्ता के लिये यह आवश्यक है।

*

*

निःसंदेह स्वतंत्र और संयुक्त भारत अस्तित्व में आयगा और माता अपने बच्चों को अपने पास चारों ओर इकट्ठा करेगी, उन्हें अविभक्त राष्ट्रीय बल के रूप में तथा एक महान् और संयुक्त जातीय जीवन के रूप में ढालकर एक कर देगी।

—श्रीअरविन्द

*

*

सब कुछ होते हुए भी भारत की आत्मा एक है और जब कि अभी हमें प्रतीक्षा करनी है ताकि हम यह कहने में समर्थ हो सकें कि “एक और अविभाज्य भारत की जय हो” हमारा नारा होना चाहिये—“भारत की आत्मा अमर हो।”

—श्री माताजी

अपनी
करने के अ
रूप में अ
है और इ
आत्मा के
tion))
पुरुष, सः
अपने कम
तथा लोव
जिसे कि
के अंदर
यह स
तथा निधि
करती हैं,
और गुणो
है, एक ए
व्यक्तित्व
अपने आ
जब वे इस
और साम
नपुंसकलि

* वह
है, स्नाय
को, उन्व

ईशोपनिषद्

तृतीय विचारधारा (क)

(६)

ईश

(मंत्र ८)*

‘सः’ (वह)

अपनी तृतीय विचारधारा में उपनिषद् कर्म करने के औचित्य के विषय को जिसे कि वह सामान्य रूप में अपने दूसरे मंत्र में वर्णित कर चुकी है लेती है और इसकी ठीक ठीक नींव रखती है ब्रह्म या आत्मा के ईश के रूप में विभावन (conception) पर—उस ईश के रूप में, जो ईश्वर, पर पुरुष, सः है, जो व्यक्तित्व का कारण होता है और अपने कर्मों के नियम के द्वारा गति के उस ताल को तथा लोकों की उस प्रक्रिया को नियंत्रित करता है जिसे कि वह शाश्वत काल में अपनी ही आत्म-सत्ता के अंदर देखता और सिद्ध करता है।

यह समझना भूल है कि उपनिषदें एक निर्व्यक्तिक तथा निष्क्रिय ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता का उपदेश करती हैं, एक व्यक्तित्वहीन ईश्वर की जो शक्ति और गुणों से रहित है। वे तो, अधिक ठीक यह है, एक ऐसे अज्ञेय का प्रतिपादन करती हैं जो कि व्यक्तित्ववान् और निर्व्यक्तिक ऐसे द्विविध रूप में अपने आपको हमारे प्रति अभिव्यक्त करता है। जब वे इस अज्ञेय के विषय में पूरे सर्व-संग्राहक रूप में और सामान्य रूप में कहना चाहती हैं तो वे इसे नपुंसकलिंग में ‘तत्’ कहके पुकारती हैं; परंतु यह

नपुंसक प्रयोग उसके विश्वव्यापक और परात्पर व्यक्तित्व के उस स्वरूप को बहिष्कृत नहीं करता जो कि जगत् में काम कर रहा और शासन कर रहा है (केन उपनिषद् ३)। तो भी, जब उन्हें इस दूसरे विचार को प्रमुखता देना अभिप्रेत होता है तो वे प्रायः पुल्लिंग में ‘सः’ कहना अधिक पसंद करती हैं, या फिर वे देव (ईश्वर, ईश) या पुरुष (सचेतन आत्मा) शब्द का प्रयोग करती हैं जिसका अभिप्राय है वह जिसकी कि प्रकृति या माया कार्यवाहक पौरुष है, शक्ति है।

ब्रह्म का इस रूप में प्रतिपादन कर चुकने के उपरांत कि वह एकमात्र वास्तविकता है जो अपने आपको बहुत से पार्श्वों और स्वरूपों में अभिव्यक्त करती है, इस ब्रह्म को आत्म-विषयितया इस रूप में उपस्थित कर चुकने के उपरांत कि यह आत्मा है, एकमात्र सत्ता है जिसके कि सब अस्तित्व भूतभाव हैं, और फिर इस रूप में कह चुकने के उपरांत कि यह वह है जिसे कि हमने अपने आपमें चरितार्थ करना है और सब वस्तुओं तथा सब वस्तुओं से परे भी चरितार्थ करना है, अब यह ईशोपनिषद् उसी ब्रह्म को बहिर्विषयतया इस रूप में प्रख्यापित करने को प्रवृत्त होती है कि वह ईश है, पुरुष है जो, दोनों कार्य करता है, विश्व को धारण भी करता है और उसमें निवास भी करता है।

* वह वही है जो सर्वत्र गया हुआ है—वह जो उज्ज्वल है, अशरीर है, अपूर्णता के व्रण से रहित है, स्नायुरहित, शुद्ध, पाप से अविद्ध है। कवि, विचारक, जो सर्वत्र हो रहा है उस स्वयंभू ने वस्तुओं को, उनके ठीक ठीक यथातथ स्वभाव के अनुरूप, शाश्वत संवत्सरों से व्यवस्थित किया है।

यह वह ही है जो सर्वत्र चला गया है। यह ब्रह्म, यह आत्मा ईश्वर से, ईश से जिसके कि नाम से यह उपनिषद् आरंभ होती है अभिन्न है, एकत्वयुक्त है, उस ईश से जो कि सब वस्तु-रूपों में निवास करनेवाला है : और, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह १६वें मंत्र के विश्व-मय पुरुष से भी अभिन्न है—‘योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि (वहां, वहां जो पुरुष है वह मैं हूं)’। यह वह है जो सब वस्तुएं और सत्ताएं बन गया है, हो गया है—एक सचेतन सत्ता, एकमेव सत् तथा स्वयंसत्, जो कि सबका स्वामी और उपभोक्ता है, वह हो गया है, भूतभाव में आ गया है। और उपनिषद् प्रवृत्त होती है सूत्रित करने को, सूत्ररूप में यह बतलाने को कि परमेश्वर के इस भूतभाव का जिसे हम जगत् कहके पुकारते हैं सामान्य नियम क्या है, इसकी प्रकृति और प्रकार क्या है। क्योंकि इस बात पर ही आधार रखता है मृत्यु और अमरता के दो ध्रुवों का वैदिक विचार, अविद्या (अज्ञान) के अस्तित्व में होने का कारण, और जगत् में कर्मों के किये जाने का औचित्य।

संकमणवर्त्ती विचार

दिव्य व्यक्तित्व

परमेश्वर के, ‘सः’ के, देव या ईश के वैदान्तिक विचार को व्यक्तित्वयुक्त परमेश्वर की कल्पना से संबद्ध सामान्य विचारों के साथ मिलाकर गड़बड़ी नहीं कर देनी चाहिये। साधारणतया व्यक्तित्व (‘पुरुष’-रूपता) की जो कल्पना की जाती है उसमें उसे स्थूल व्यक्तित्व (साकार-रूपता) से अभिन्न कर दिया जाता है और व्यक्तित्वयुक्त परमेश्वर की असंस्कृत कल्पना यह है कि वह अपनी प्रकृति में एक बड़ा चढ़ा मनुष्य-जैसा व्यक्ति है पर फिर भी भिन्न है, अधिक महान्, अधिक विशाल और सर्वातिशायी है। वेदांत ब्रह्म के—मनुष्य में और मनुष्य के प्रति—मानवीय अभिव्यक्तीकरण को स्वीकार तो

करता है पर यह नहीं स्वीकार करता कि यह ईश्वर का सच्चा स्वभाव है।

परमेश्वर सच्चिदानन्द है। वह अपने आपको अभिव्यक्त करता है असीम सत्ता के रूप में, जिसका कि आवश्यक तत्त्व है चेतना, जिसका कि फिर आवश्यक तत्त्व है आनंद, वह स्वयं-आनंद है। आनंद अपने आपकी विविधता को ज्ञानगत करता हुआ, अपनी ही विविधता को मानो खोजता हुआ यह विश्व हो गया है। परंतु ये तो अमूर्त परिभाषाएं हैं; अमूर्त विचार अपने आपमें मूर्त वास्तविकताओं को उत्पन्न नहीं कर सकते। ये निर्व्यक्तिक अवस्थाएं हैं; निर्व्यक्तिक अवस्थाएं अपने आपमें व्यक्तित्व-युक्त क्रियाओं को उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है यदि हम सच्चिदानन्द के अभिव्यक्तीकरण पर विचार करें। उस अभिव्यक्तीकरण में आनंद अपने आपको प्रेम में रूपांतरित करता है, चेतना अपने आपको द्विविध रूपों, विचारात्मक ज्ञान और क्रियासाधक बल में, रूपांतरित करती है, अस्तित्व अपने आपको रूपांतरित करता है सत्ता में, अर्थात् व्यक्ति और पदार्थ में। परंतु प्रेम अपूर्ण है बिना किसी प्रेम करनेवाले और प्रेमपात्र के; ज्ञान अपूर्ण है बिना किसी जाननेवाले और ज्ञान-विषय के; तथा बल अपूर्ण है बिना कार्य करनेवाले और कार्य के; पदार्थ अपूर्ण है बिना किसी व्यक्ति के जो उसे ज्ञानगत कर रहा और उसका विधान कर रहा हो।

यह इसलिये है क्योंकि मौलिक रूप भी वास्तव में निर्व्यक्तिक विविधतार नहीं है। ब्रह्म के आनंद में एक आनंद का उपभोक्ता विद्यमान है, ब्रह्म की चेतना में एक चेतिता, ब्रह्म की सत्ता में एक सत्तावान् है, पर ब्रह्म के आनंद और चेतना का विषय तथा उसकी सत्ता का रूप और तत्त्व वह स्वयं है। उस दिव्य सत्ता में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय और, इसीलिये, अवश्यंभावि-तया आनंद, उपभोक्ता और उपभोग्य भी एक हैं।

ह ईश्वर

आपको

जिसका

कि फिर

नंद है।

करता

हुआ यह

रेभापाएं

धकताओं

अवस्थाएं

प्रकितत्व-

।

है यदि

विचार

आपको

आपको

यासाधक

आपको

क्त और

कसी प्रेम

है बिना

वथा बल

; पदार्थ

नगत कर

वास्तव

आनंद में

नी चेतना

न है, पर

उसकी

दिव्य सत्ता

क्षयभाव-

एक हैं।

ब्रह्म की इस आत्माभिज्ञता तथा आत्मानंद की अपनी चेतना की शक्ति के, अपनी प्रकृति या माया के दो प्रकार होते हैं—एक आत्मलीनता के लिये एकाग्रताशील, दूसरा आत्मविस्तारण के लिये प्रसरणशील। एकाग्रताशील प्रकार शुद्ध और शांत ब्रह्म का अपना निजी रूप है; प्रसरणशील प्रकार सक्रिय ब्रह्म का रूप है। यह स्वयं-सत् का अपनी ही सत्ता के रूप और तत्त्व में प्रसरण है जिसे कि हम जगत् कहते हैं, भूतभाव या नित्य गति (भुवनम्, जगत्)। यह ब्रह्म ही है जो भूतभाव को प्राप्त होता है, और वह जो कुछ होता (भूतभाव) है वह भी ब्रह्म ही है। प्रेम का पात्र प्रेम करनेवाले का आत्मा ही है; कर्म कर्म करनेवाले का आत्म-आकृतिप्रदान है, यह विश्व है ईश का शरीर और क्रिया।

इसलिये जब हम उस असीम सत्ता के विविक्त और निर्व्यक्त स्वरूप का विचार करते हैं तो हम कहते हैं 'तत्' : जब हम उस सत्तावान् का, जो आत्माभिज्ञ और आत्मानंदपूर्ण है, विचार करते हैं तो हम कहते हैं 'सः'। इन दोनों में से एक भी कल्पना पूरी तरह पूर्ण नहीं है। ब्रह्म स्वयं तो अज्ञेय है जो व्यक्तित्व की और निर्व्यक्तिकता की सब कल्पनाओं से परे है। हम उसे 'तत्' करके पुकार सकते हैं यह प्रकट करने के लिये कि हम अपने कथन में उसकी कोई परिभाषा या उसका कोई भी निरूपण नहीं करते हैं, उनसे वह परे है। उसी प्रकार हम उसे 'सः' करके भी पुकार सकते हैं, यदि ऐसा कहने में हमारा वही अभिप्राय है कि वह इनसे सर्वथा परे है। 'तत्' और 'सः' सदा एक ही बात हैं, वह जो कि परिभाषा से अतीत है।

इस विश्व में एकत्व और बहुत्व का सतत संबंध है। यह संबंध अपने आपको प्रकट करता है विश्वमय

पुरुष (व्यक्तित्व) तथा बहुत से पुरुषों (व्यक्तियों) के रूप में, और एक और बहु के बीच में तथा बहु के स्वयं अपने आपके बीच में, दोनों प्रकार से, संबंधों की असीम विविधता संभवनीय है। ये संबंध निर्धारित होते हैं दिव्य सत्ता की लीला द्वारा, अपने अभिव्यक्तीकृत निवासों के अंदर प्रवेश करते हुए ईश की लीला द्वारा। पहले संबंध सचेतन रूप में वैयक्तिक आत्माओं के बीच होते हैं; फिर वे आत्माएं उनको लेकर उनका उपयोग एक के साथ सचेतन संबंध में प्रविष्ट होने के लिये साधन के तौर पर करती हैं। यही एक के साथ विविध संबंधों में प्रविष्ट होना है जो कि धर्म का उद्देश्य और कार्य है। इस सारभूत आवश्यकता के द्वारा सभी धर्मों का अपना औचित्य है; सब एक ही सत्य को विविध रूपों में प्रकट करते हैं और विविध मार्गों द्वारा एक ही ध्येय की ओर जाते हैं।

यह दिव्य व्यक्तित्व (पुरुष) अपने आपको वैयक्तिक आत्मा के प्रति विविध रूपों और नामों में प्रकट करता है। एक अर्थ में ये रूप और नाम मानव चेतना के अंदर उत्पन्न किये जाते हैं; दूसरे अर्थ में ये सनातन प्रतीक हैं जो परम देव द्वारा प्रकट किये गये हैं, जो परम देव इस प्रकार अपने आपको बहुविध चेतना के प्रति मनोमय रूप में मूर्तिमान् करता है और इसकी अपनी एकता के प्रति वापिस पहुंचने में इसे सहायता पहुंचाता है।*

वह जो सर्वत्र गया हुआ है

यह वह है जिसने अपने आपको सापेक्ष चेतना में विस्तारित किया है, उस सापेक्ष चेतना में जिसकी ससीम और परिवर्तनशील अवस्थाओं—जो एक सम, अपरिवर्तनीय तथा शाश्वत असीमता पर आधारित

*यह कल्पना करना भूल होगी कि अपने तत्त्वरूप में ये विचार हिन्दूधर्म के दर्शन में पीछे विकसित हुए हैं। एक ही देव के बहुत से रूपों और नामों का विचार तो इतना पुराना है जितना कि ऋग्वेद।

हैं—की समग्रता ही वह है जिसे हम विश्व कहते हैं।
स पर्यगात् ।

इस विस्तार के अंदर, इस प्रकार हम दो पार्श्वों को देखते हैं—एक है शुद्ध असीम संबंधरहित अपरिवर्तनशीलता का, दूसरा देश और काल में स्थित तथा अपने संबंधों को कार्यकारणता द्वारा निष्पन्न करते हुए पदार्थों की समग्रता का। दोनों एक ही अज्ञेय 'सः' की भिन्न भिन्न तथा परस्परपूरक अभिव्यक्तियां हैं।

असीम अपरिवर्तनशीलता को प्रकट करने के लिये उपनिषद् नपुंसकलिङ्गी विशेषणों की एक शृंखला प्रयुक्त करती है—शुक्लम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम् (उज्ज्वल, अशरीर, व्रणरहित, स्नायुरहित, शुद्ध, पाप से अविद्ध)। उसी निरपेक्ष को पदार्थों की समग्रता के तथा समग्रता में स्थित प्रत्येक पदार्थ के (जगत्यां जगत्) कारण, आधार और शासन करनेवाले अन्तर्निवासी के तौर पर प्रकट करने के लिये उपनिषद् चार पुंलिङ्गी विशेषण प्रयुक्त करती है—कविः, मनीषी, परिभूः, स्वयंभूः (कवि, विचारक, जो सर्वत्र हो रहा है और स्वयंभू अर्थात् स्वयं-सत् है या स्वयं भूतभाव को प्राप्त हो रहा है)।

वह अपरिवर्तनीय, समस्त वस्तुओं में समतया, निष्पक्षतया विस्तृत हुआ, समं ब्रह्म,* किसी चुनाव या सक्रिय हिस्सेदारी के बिना सबको अपना आश्रय देता हुआ, गति तथा लीला का प्रशान्त और निगूढ़ आधार है। अपनी शाश्वत अपरिवर्तनशीलता में सुरक्षित और स्वतंत्र वह ईश अपने आपको लीला और गति में प्रक्षेप करता है, और वहां अपनी आत्मसत्ता में वह सब कुछ हो जाता है, बन जाता है (भूत-भाव) जो कि उसके अंदर का कवि दृष्टि

में लाता है और उसके अंदर का मनीषी विचार-गत करता है।

वह शुद्ध अपरिवर्तनीय

ईश की शुद्ध अपरिवर्तनीयता 'शुक्' है, उज्ज्वल है। यह है शुद्ध एकाग्र आत्माभिज्ञता की एक प्रकाशमयता, जो किरणों के वक्रीकरण द्वारा खण्डित नहीं होती, जो रंग और रूप में कभी खिल नहीं उठती। यह है पुरुष का, सचेतन आत्मा का अपने बल, अपनी कार्यसाधिका शक्ति को अन्तर्भूत और निष्क्रिय रखते हुए, शुद्ध आत्म-ज्ञान।

यह है 'अकाय'—रूप या आकार से रहित, अविभाज्य तथा विभाजन की प्रतीति से रहित। यह सब वस्तुओं में एक, सम पुरुष है, देश और काल के विभागों से अविभक्त—एक शुद्ध आत्म-सचेतन निरपेक्ष।

यह है 'अव्रण', अर्थात् त्रुटि, भंग या अपूर्णता से रहित। यह परिवर्तनीयताओं द्वारा अस्पृष्ट तथा अविद्धत है। यह उनके संबंधों के संघर्ष को, अधिक और न्यून के, वृद्धि और क्षय के, भेदन और अन्तर्व्यापन के उनके खेल को आश्रय प्रदान करता है। कारण, स्वयं वह क्रियारहित है, अचलः सनातनः।†

वह है 'अस्नाविर', स्नायुरहित। उसके अव्रण होने का कारण यह है कि वह बल को नहीं प्रकट करता, शक्ति को बहुविध प्रणालिकाओं में नहीं बांटता, उसे यहां क्षय नहीं करता, वहां बढ़ाता नहीं, उसकी क्षति को पूरा नहीं करता या प्रेम अथवा बलात्कार द्वारा उसके पूरक को या उसके भोजन को नहीं चाहता। वह शक्ति की स्नायुओं से रहित है; यह प्राणिक सक्रियता की, जीवन की, मातरिश्वा की शक्तियों में अपने आपको नहीं उंडेलता।

*गीता गीता, २-२४

विचार-

उज्ज्वल

प्रकाश-

उत नहीं

उठती।

, अपनी

य रखते

, अवि-

। यह

र काल

-सचेतन

पूर्णता से

या अवि-

यक और

कारण,

।

के अव्रण

हीं प्रकट

में नहीं

ता नहीं,

अथवा

भोजन

से रहित

, मात-

डंडेलता।

यह है 'शुद्ध, पाप से अविद्ध'। जिसे हम पाप या बुराई कहते हैं वह केवल अति और चूटि है, मिथ्या अवस्थापन है, असामंजस्ययुक्त क्रिया और प्रतिक्रिया है। अपनी समता के द्वारा, अपनी निष्क्रियता के द्वारा उस समय भी जब कि यह समस्त क्रिया को आश्रय प्रदान कर रहा है, यह सचेतन आत्मा अपनी शाश्वत स्वतंत्रता तथा शाश्वत पवित्रता को बनाये रखता है। क्योंकि यह अविद्ध है; यह साक्षी के तौर पर प्रकृति द्वारा किये जा रहे विकारों या परिवर्तनों को देखता तो रहता है, पर उनमें हिस्सा नहीं लेता, उनके साथ आवद्ध या आसक्त नहीं होता, उनके प्रभाव व संस्कारों को ग्रहण नहीं करता। न लिप्यते।

आत्मा अपनी अनपहरणीय स्वभावसिद्ध स्वतंत्रता में

सक्रिय ब्रह्म और मानव आत्मा का इस शुद्ध निष्क्रिय ब्रह्म के साथ क्या संबंध है? वे भी वही हैं। क्रिया, आत्मा के स्व-भाव को नहीं बदलती, किंतु केवल विभिन्न रूपों के स्व-भाव को बदलती है। आत्मा सदा शुद्ध, सुखमय, पूर्ण है, चाहे निष्क्रिय हो या क्रिया में भाग ले रहा हो।

आत्मा सब वस्तुएं हैं और उन्हें अतिक्रान्त किये हुए है। वह सदा उसे अतिक्रान्त किये हुए है जिसमें कि मन ग्रस्त, तल्लीन है, उसे जिसको मन एक विशेष काल और स्थान में अपनी ही एक आकृति के रूप में ग्रहण करता है। अमर्यादित 'सर्व' सदा पूर्ण है। वस्तुओं की समग्रता एक पूर्ण सामंजस्य है जो व्रण या छिद्र से रहित है। 'सर्व' के लिये लिये गये 'अंश' का दृष्टिबिंदु, दूसरे शब्दों में अविद्या, है वह भग्न प्रतिबिंब जो कि सीमितता, अपूर्णता और विसंवाद की चेतना को रचता है। हम देखेंगे कि इस अविद्या का भी ब्रह्म की लीला में कुछ उपयोग है पर अपने आपमें पहले यही प्रतीत होता है कि यह केवल बुराई की उत्पादक है।

अविद्या एक आवरण है जो कि मन, शरीर और प्राण को उनके स्रोत और वास्तविकता, सच्चिदानन्द, से पृथक् करता है। इस प्रकार धुंधला हुआ हुआ मन अपने आपको उस बुराई से विधा हुआ (पाप-विद्ध) अनुभव करता है जिसे कि अविद्या ने रचा है। परंतु सक्रिय ब्रह्म, अपनी आत्म-संभूति (भूत-भाव) के लिये मन, शरीर और प्राण की आकृतियों का उपयोग करता हुआ सदा सच्चिदानन्द ही है। अतएव उनके समस्त अनुभव इस (सक्रिय ब्रह्म) द्वारा, सच्चिदानन्द के रूपों में, साक्षात् किये जाते हैं। यह बुराई, पाप द्वारा विद्ध नहीं है। क्योंकि यह भी एक है और सर्वत्र एकत्व को देखता है। यह उस अविद्या के द्वारा अधिकृत नहीं है जिसका कि यह अपने विभावन के एक अप्रधान प्रकार के रूप में उपयोग करता है।

मानव आत्मा ईश के साथ एक है; यह भी, अविद्या को अपनी सत्ता के अप्रधान प्रकार के तौर पर उपयोग करता हुआ, अपनी संपूर्णता में सच्चिदानन्द है। परंतु इसने अपने विभावनों को इस गीण प्रकार में प्रक्षिप्त किया है और वहां सीमित मन के अंदर अपने दर्शन के केन्द्र को, अपने दृष्टिबिंदु को स्थापित किया है। वह अपने ऊपर असंपूर्णता को धारण करता है, और परिणामभूत अभाव, विसंवाद, इच्छा, व्लेश के अनुभव को भी। पीछे रहनेवाला वास्तविक मानव इस सब गड़बड़ से प्रभावित नहीं होता; परंतु दीखनेवाला या बाह्य मानव प्रभावित होता है। अपनी स्वतंत्रता की पुनः प्राप्ति के लिये इसे अपनी संपूर्णता को पुनः प्राप्त करना होगा; इसे अपने आपको दिव्य अन्तर्निवासी के साथ, अपने सच्चे और पूर्ण आत्मा के साथ, तादात्म्ययुक्त करना होगा। तब यह, ईश की तरह, प्रकृति की क्रिया का, अपने कर्म के फलों के साथ एकात्मा होने के मिथ्या संस्कार के अधीन हुए बिना, संचालन कर सकता है। यही वह बिचार है जिसपर कि उपनिषद्

अपने 'न कर्म लिप्यते नरे (कर्म मनुष्य को लिप्य नहीं करता)' इस कथन को आधारित करती है।

इस उद्देश्य के लिये इसे अंदर के शांत ब्रह्म को पुनः प्राप्त करना होगा। ईश सदा अपने द्विविध-रूप को धारण किये हुए है और इसमें विस्तारित विश्व की क्रिया का संचालन करता है, परंतु अपने कार्यों में आसक्त या उन द्वारा सीमित नहीं होता। मानव आत्मा, मन में बंधा हुआ, प्रकृति के कार्यों की वेगवती धारा द्वारा अपने दर्शन में तिमिराच्छन्न हो जाता है और अपने आपको उस धारा का एक अंश समझता है और इसके प्रवाहों में तथा इसके आवर्तों में बहा लिया जाता है। इसे अपनी आत्म-सत्ता के अंदर अपने शांत पुरुष के पास लौट आना होगा तब भी जब कि अपनी आत्म-संभूति में वह प्रकृति की गति में भाग ले रहा है। तब वह न केवल, शांत पुरुष की तरह साक्षी और भर्त्ता हो जाता है किंतु ईश भी और प्रकृति तथा उसके कार्यों का स्वतंत्र भोक्ता भी हो जाता है। एक नितान्त शांति और निष्क्रियता, विशुद्धता और समता अन्तर में तथा एक परम और अक्षय्य सक्रियता बाहर में, यह है ब्रह्म का स्वभाव जैसा इसे हम विश्व में अभिव्यक्त हुआ देखते हैं।

इसलिये कर्मों के करने में और कोई आपत्ति की बात नहीं रहती। प्रत्युत, निष्क्रियता और सक्रियता के अपने द्विविध पार्श्वोंवाले ईश के साथ आत्मा के हिस्सेदार होने से या उसके साथ तादात्म्ययुक्त होने से कर्मों का औचित्य ठहरता है। आत्मा के लिये शांत स्थिरता, शक्ति के लिये सक्रियता, यह है मनुष्य में दिव्य ताल द्वारा स्थापित संतुलन।

वस्तुओं का नियम

पदार्थों (अर्थान्) की समग्रता, अपनी ही सत्ता के विस्तार में, ईश की संभूति है। इसका सिद्धांत द्विविध है। एक चित् से संबंधित, दूसरा सत् से;

चित् शक्ति (तपः) में अपनी आत्मसत्ता पर ठहरती है, अपने आपके विचार धी (विज्ञान) को उत्पन्न करने के लिये और उस विचार (धी) के अपरिहार्यतया अनुसारी रूप और क्रिया उत्पन्न करने के लिये। यह है सृष्टि की, आत्म-प्रसव की या आकार में आत्म-प्रक्षेप की, मूलभूत भारतीय कल्पना। सत् अपनी आत्माभिज्ञता को प्रयुक्त करता है अपने आपके असीम आकारों (रूपों) को विकसित करने के लिये और यह विकास शासित होता है आकार (रूप) में स्वयं-निहित विचार 'धी' के परिवर्धन द्वारा। यह है विकास की मूलभूत भारतीय कल्पना, जो कि सांख्य (परिणाम, विकार, विवर्त) जैसे कुछ दर्शनों में प्रमुखस्थानीय है। बात एक ही है जो विभिन्न प्रकार से कही गयी है।

कुछ विचारकों के मत में यह जगत् विशुद्धतया विषयनिष्ठ विकास (विवर्त) है, एक बाह्य विषय-भूत तथ्य के तौर पर वास्तविक नहीं है; दूसरों के मत में यह बाह्य विषयरूप तथ्य है, एक वास्तविक विक्रिया है, परिणाम है पर ऐसा परिणाम जो कि सत्ता के तत्त्व में कोई भेद नहीं लाता। दोनों ही मतों का दावा है कि उनके विचार की प्रमाण उप-निषदें हैं, और उनका विरोध वास्तव में आता तब है जब उसको जुदा जुदा किया जाता है जिसे प्राचीन वेदांत एक करके देखता था—जैसा कि हम ईशोप-निषद् के इस मंत्र में देखते हैं।

ब्रह्म है स्वयं अपना ही विषयी और स्वयं अपना ही विषय, चाहे अपनी विशुद्ध आत्म-सत्ता में हो या अपनी विविध आत्म-संभूति में। वह है विषय (सत्भूत) अपनी ही आत्माभिज्ञता का, वह है ज्ञाता अपनी ही आत्म-सत्ता का। ये दो पार्श्व अवियोज्य हैं, चाहे ये एक दूसरे के अंदर तिरोहित होते हुए और पुनः एक दूसरे से निकलते हुए प्रतीत होते हैं। विशुद्ध विषयिभाव की सब प्रतीति अपने आप-को धारण करती है उस बाह्य विषय के तौर पर

जो कि अ
विशुद्ध व
धारण क
कि अपने

सब
संभूत है
(धी) क
(धी), अ
संभूत हो
देखता है
'कवि'
चिंतन व
'मनीषी'
है गति
ये तीन
दैशिक
वाली)

इससे
अपने ही
धारण
भ्यः, शा
की सम
जाते हैं
संभूत
पदार्थों
व्यापक
उनका
उसकी
ताओं
अवश्यं
इस
द्वारा पू
में उन्हे
सामंजस

त्ता पर
(न) को
(धी) के
उत्पन्न
सब की
भारतीय
त करता
विकसित
होता है
'धी' के
भारतीय
विवर्तन)
तात एक
शुद्धतया
विषय-
दूसरों के
वास्तविक
जो कि
दोनों ही
माण उप-
माता तब
प्राचीन
ईशोप-
यं अपना
मा में हो
है विषय
है ज्ञाता
प्रवियोज्य
होते हुए
नीत होते
ने आप-
तौर पर

जो कि अपने आपके विषयिभाव में ही अन्तर्निहित है, विशुद्ध बाह्यविषयता की सब प्रतीति अपने आपको धारण करती है उस अन्तर्विषयिभाव के तौर पर जो कि अपने आपकी बाह्यविषयता में ही अन्तर्निहित है।

सब बाह्यविषयभूत सत्ता है आत्म-सत्, स्वयं संभूत होनेवाली, स्वयंभूः, अपने अंदर के विचार (धी) की शक्ति से संभूत होनेवाली। यह विचार (धी), आत्मधृत, है वह तथ्य जो कि वह बन जाता, संभूत हो जाता है। क्योंकि 'स्वयंभू' अपने आपको देखता है या समझता है उस तथ्य के सारतत्त्व में 'कवि' के तौर पर, अपने आपको विचारता है, चिंतन करता है, इसकी संभावनाओं के विकास में 'मनीषी' के तौर पर, अपने आपका रूप बन जाता है गति में देश और काल में 'परिभू' के तौर पर। ये तीन हैं एक ही क्रिया, सापेक्ष, कालिक और दैशिक चेतना में क्रमिक (एक के बाद एक होने-वाली) प्रतीत होती हुई।

इससे परिणाम निकलता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही अंदर में अपने आपके होने के नियम को धारण किये हुए है शाश्वततया, शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, शाश्वत संवत्सरों से, सदातन काल में। पदार्थों की समग्रता में सब संबंध इस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं उनके अन्तर्निवासी द्वारा, उस स्वयं-सत्, स्वयं संभूत होनेवाले द्वारा, और वे धृत बने रहते हैं पदार्थों के स्वभाव में उस एक, उस ईश की सर्व-व्यापकता द्वारा, उसकी आत्मदृष्टि द्वारा जो कि उनका अन्तर्निहित सहजात विषयिनिष्ठ सत्य है, उसकी आत्मसंभूति द्वारा जो कि, असीम संभावनाओं की पृष्ठभूमि में, बाह्यविषयभूत तथ्य में अवश्यभावी विकास का नियम है।

इसलिये सब पदार्थ व्यवस्थित किये गये हैं उस द्वारा पूर्णतया, याथातथ्यतः, जैसा कि अपने स्वभाव में उन्हें होना चाहिये। सर्व में एक अनुल्लंघनीय सामंजस्य है, जो कि व्यक्तीकरण के प्रतीत होनेवाले

विसंवादों, विरोधों का नियंत्रण करता है। ये विसंवाद, विरोध वास्तविक होते और शाश्वत संकर-अस्तव्यस्तता—में कार्य करते, यदि जगत् वैयक्तिक रूपों और शक्तियों का केवल एक समुदाय होता और यदि प्रत्येक रूप और शक्ति अपने आपमें स्वयंसत् सर्व को, ईश को धारण किये हुए न होती और अपनी वास्तविकता में ईश ही न होती।

वस्तुओं की प्रक्रिया

वस्तुओं की प्रक्रिया के सापेक्ष विचार में ईश हमें पहले कवि के, ज्ञानी के, ऋषि के रूप में दिखायी देता है। कवि सत्य को इसके स्व-स्वरूप में देखता है, इसकी संभूति में, इसके सारतत्त्व में, संभावनाओं में, वास्तविक हो जाने में सत्य को देखता है। इस सबको वह विचार में, विज्ञान में—जिसे सत्य और नियम (सत्यम्, ऋतम्) कहा गया है—धारण करता है। इसे वह सर्वसंग्राहकतया धारण करता है, न कि टुकड़े टुकड़े करके; वस्तुओं का वह सत्य और नियम विशाल हैं, 'बृहत्' हैं। अपने द्वारा ही देखा जाय तो यह विज्ञान का क्षेत्र पूर्वनिर्धारण का, एकाग्रीकरण का, बीजावस्था का लोक प्रतीत होगा। पर यह एक ऐसा निर्धारण है जो पूर्व काल में नहीं किंतु सदातन काल में है; एक ऐसा भाग्यविधान है जो कि आत्मा द्वारा (प्रकृति पर) विवश करके लगाया गया है, यह आत्मा को विवश करनेवाला नहीं बल्कि यह क्रिया और परिणाम को विवश करता है, चाहे वे गति के विस्तार में हों या विचार के एकाग्रीकरण में विद्यमान हों। इसलिये आत्मा का सत्य है स्वतंत्रता तथा प्रभुता, न कि अधीनता और बंधन। पुरुष, प्रकृति को आदेश करता है, प्रकृति पुरुष को विवश नहीं करती। न कर्म लिप्यते नरे।

मनीषी अपना स्थान संभावनाओं के अंदर ग्रहण करता है। उसके पीछे असीम की स्वतंत्रता है और इसे वह ससीम को निर्धारित करने के लिये पृष्ठ-

भूमि के तौर पर अंदर लाता है। इसलिये जगत् में होनेवाली प्रत्येक क्रिया विविध संभावनाओं के टकराने और संतुलन करने में से निकलती प्रतीत होती है। तो भी इन संभावनाओं में से कोई भी निर्धारण में सक्षम नहीं होती सिवाय उनके जो कि जो कुछ (संभूत) होता है उसके नियम के साथ अपनी गुप्त अनुकूलता रखती हैं। कवि मनीषी के अंदर है और उसे उसके कार्य में संभालता है। परंतु अपने आपसे देखा जाय तो मनीषी का लोक एक नमनीयता की स्थिति, इच्छास्वातंत्र्य की, शक्तियों की अन्तःक्रिया की स्थिति प्रतीत होगी, पर ऐसे इच्छास्वातंत्र्य की जो कि विचार-गत है, जिसका वस्तुओं के भाग्य द्वारा सामना होता है।

कारण 'मनीषी' का कार्य अभिप्रेत है 'परिभू' की संभूति में पर्यवसित होने के लिये। परिभू, जो कि विराट् भी कहलाता है, अपने आपको अंतिम संभावित परिणामों के लोक में प्रसारित करता है। वह उसे पूर्ण करता है जो कि सत्य में निहित होता है, जो कि मन द्वारा प्रतिविवित संभावनाओं के अंदर क्रियान्वित (साधित) होता है, जो हमें बाह्य-विषयतया सिद्ध तथ्य के रूप में दिखायी देता है। यदि जुदा करके देखा जाय तो विराट् का लोक हमें उस नियम और पूर्वनिर्धारण का लोक प्रतीत होगा जो कि सब वस्तुओं को जो कि उस लोक में विकसित होती हैं, विवश करता है—कर्म की कठोर लोह-शृंखला, यांत्रिक आवश्यकता का नियम, एक अगम्य नियम का निष्ठुर शासन प्रतीत होगा।

परंतु विराट् की संभूति है सदा स्वयंसत् ईश की संभूति—परिभूः स्वयंभूः। इसलिये उस संभूति के सत्य को साक्षात् करने के लिये हमें पीछे जाना होगा और जो कुछ पीछे स्थित है उससे पुनर्मिलन करना होगा—हमें स्वतंत्र और असीम सच्चिदानंद के पूर्ण सत्य की तरफ लौटना होगा।

यह है वस्तुओं का सत्य जैसा कि ऊर्ध्व से और एकता से देखने से दिखायी देता है। यह है दिव्य दृष्टिकोण; पर हमें मानवीय दृष्टिकोण को ख्याल में रखना है जो कि नीचे से आरंभ होता है, अविद्या से प्रवृत्त होता है और इन तत्त्वों को चेतना की पृथक् अवस्थाओं के तौर पर क्रमिकतया देखता है, सर्व-संग्राहकतया नहीं। मानवता वह है जो कि सच्चिदानंद तक वापिस पहुंचती है अनुभव में से, इसलिये इसे नीचे से प्रारंभ करना होता है, अविद्या में से, जहां कि मन स्थूल जड़तत्त्व में शरीरबद्ध है, जहां विचारक कैद में है और बाह्यविषयभूत तथ्य में से ऊपर उभर रहा है। यह बन्दी विचारक है 'मानव', 'मनु'।

उसे मृत्यु और विभाजन से प्रारंभ करना है और एकता और अमरता को पहुंचना है। उसने व्यक्ति में विश्वमय को और सापेक्ष में निरपेक्ष को सिद्ध करना है। वह बाह्यविषय-निष्ठ बहुविधता के अंदर आत्म-सचेतन होता जा रहा ब्रह्म है। वह ब्रह्माण्ड में 'अहं' है जो अपने आपकी सर्व और सर्वातीत रूप में स्थापित करने जा रहा है।



श्रीअरवि

मुझे

ताओं क

या दूसरी

के एक

जब हृदय

ओर गति

त्पर आ

का अव

संप्रदाय

का सारा

संपूर्ण सा

आनंद त

यह उस

न ही हो

भी प्राप्त

अधिक

उदाहरण

भक्ति स

विश्वमय

ज्योतिर्म

मार्ग औ

वेदांत क

अधिक नि

व्यक्तित्व

ओर उठ

कम तीव्र

हैं तो भी

लक्ष्यप्राप्ति

परात्पर

श की
ति के
होगा
करना
के पूर्ण

श्रीअरविन्द के पत्र-

भगवत्प्राप्ति के विभिन्न पथ

और
दिव्य
ख्याल
भविष्य
पृथक्
, सर्व-
सच्चि-
सलिये
में से,
, जहां
में से
मानव',
हैं और
व्यक्ति
सिद्ध
अंदर
ब्रह्माण्ड
वर्वात्ति

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पथों की इन विभिन्न-ताओं का कारण है मन जो भगवत्प्राप्ति की एक या दूसरी दिशा पर बल दे देता है अथवा उपलब्धि के एक पार्श्व को दूसरे से ऊंचा स्थान दे देता है। जब हृदय द्वारा, प्रेम और भक्ति द्वारा, भगवान् की ओर गति होती है तो सर्वोच्च शिखर होता है परात्पर आनंद, प्रेम के द्वारा भगवान् के साथ मिलन का अवर्णनीय आनंद या दिव्यानंद। चैतन्य के संप्रदाय ने इस मार्ग पर विशेष और वस्तुतः सारे का सारा बल दे दिया और इसे श्रीकृष्ण-चेतना का संपूर्ण सारतत्त्व निश्चित कर डाला। परंतु परात्पर आनंद तो समस्त सत्ता के आदि और अन्त में है और यह उसकी प्राप्ति के लिये एकमात्र मार्ग नहीं है और न ही हो सकता है। कोई उसे वासुदेव-चेतना द्वारा भी प्राप्त कर सकता है जो चेतना कि अधिक विशाल, अधिक मानसीकृत (mentalised) मार्ग है—उदाहरणार्थ, गीता की पद्धति से जिसमें ज्ञान, कर्म, भक्ति सबके सब कृष्ण में अर्थात् एकमेव, परात्पर, विश्वमय देव में केन्द्रित हैं, और वैश्व चेतना से वह ज्योतिर्मय परात्परता को प्राप्त कर सकता है। एक मार्ग और भी है जिसका वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद्, वेदांत की आनंदवल्ली, में आता है। ये निश्चितरूपेण अधिक विशाल पद्धतियां हैं, क्योंकि ये संपूर्ण सत्ता को व्यक्तित्व के सब अंगों और शैलियों द्वारा भगवान् की ओर उठा ले जाती हैं। यदि वे अपने उपक्रम में कम तीव्र हैं, अधिक विस्तृत तथा अधिक मन्द गतियां हैं तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं कि वे अपने लक्ष्यप्राप्ति के उच्च स्तरों पर भी कम तीव्र होंगी। परात्परता तो वह एक ही है जिसपर ये सभी मार्ग

पहुंचते हैं, चाहे ये एक विस्तृत गति द्वारा पहुंचें जो हमारे अंदर के प्रत्येक आध्यात्मिक तत्त्व को एक विशाल उदात्तीकरण में वहां परात्पर तक ले जाने के लिये एकत्र करती है अथवा ये एक ही अंग से अनन्य तीव्र ऊर्ध्वगमन द्वारा पहुंचें, ऐसे अनन्य उत्थयन द्वारा जो शेष सब अंगों को एक तरफ छोड़ देता है। परंतु यह कौन कह सकता है कि दोनों में से कौन अधिक गंभीर है? धनीभूत प्रेम में एक निराली गंभीरता होती है जिसकी थाह नहीं ली जा सकती; धनीभूत ज्ञान में विशालतर गंभीरता होती है, किंतु कोई यह नहीं कह सकता कि यह अधिक गहरा होता है।

वैश्व शक्तियां तो परात्परता के सत्य के प्रति-बिम्बमात्र हैं कालिक अनुभूति के उस निम्नतर सत्य में जो पृथक्कारक है और एक देव के सहस्रों रूपों को विभिन्न करके देखता है। जैसे जैसे कोई व्यक्ति मन द्वारा या अभिव्यक्त सत्ता के अन्य किसी भाग द्वारा ऊंचा उठता है वैसे वैसे इन रूपों में से कोई एक या अनेक अधिकाधिक ऊर्ध्वीकृत हो सकते हैं और अपनी परम परात्पर तीव्रता की ओर उन्मुख हो सकते हैं, और इस प्रकार जो कोई भी रूप अनुभूत होता है उसे अध्यात्मभावापन्न मानसिक चेतना सर्वोच्च वस्तु करके घोषित कर देती है। परंतु जब कोई मन से परे उठ जाता है तब समस्त रूप आदि न केवल उदात्तीकृत होते जाते हैं बल्कि एक साथ घुलने मिलने लगते हैं यहां तक कि पृथक्कृत रूप अपने मूल एकत्व को पुनः प्राप्त कर लेते हैं; जहां सब एक हो गये हैं उस निरपेक्ष केवलता में वे अवि-भाज्य एकत्व को प्राप्त कर लेते हैं। मन चेतना-रहित या आनंदरहित सत्ता को विचार में ला सकता

और अनुभव कर सकता है और उसकी यह क्रिया जड़ प्रकृति पर आरोपित किये गये धर्म 'अचेतना' में पूरे तौर पर प्रकट होती है। उसी प्रकार यह आनंद या प्रेम को भी पृथक् तत्त्व के रूप में सोच सकता है; यह चेतना और सत्ता को प्रेम या आनंद की समाधि या मूर्छा में स्वतः विलीन होती हुई भी अनुभव करता है। उसी प्रकार सीमित व्यक्ति अपनेको असीम पुरुष में, प्रेमी अपनेको परम प्रिय-तम में, अथवा व्यक्ति अपनेको निर्व्यक्तिक सत्ता में लय कर देता है; प्रेमी अपने आपको प्रेम और आनंद की परात्पर वास्तविक सत्ता में निमज्जित और लय होते हुए अनुभव करता है। व्यक्ति और निर्व्यक्तिक सत्ता को भी मन पृथक् पृथक् सदस्तुओं के रूप में स्थापित करता तथा अनुभव करता है और इनमेंसे एक या दूसरी को परम सत्ता के रूप में घोषित करता तथा देखता है, यहां तक कि व्यक्ति निर्व्यक्तिक सत्ता में लय को प्राप्त कर सकता था, इसके विपरीत, निर्व्यक्तिक सत्ता परम और दिव्य पुरुष की निरपेक्ष वास्तविक सत्ता में विलीन हो जाती है—उस दृष्टिबिंदु से निर्गुण सत्ता सगुण भगवान् का गुण या शक्तिमात्र है। परंतु आध्यात्मिक अनुभूति के अत्युच्च स्तर पर, मन से परे पहुंचकर मनुष्य इन सब चीजों के घुलमिलकर एक हो जाने को अनुभव करने लगता है। चित्, सत्, आनंद अपने अविभाज्य एकत्व, सच्चिदानंद, को लौट जाते हैं। सगुण और निर्गुण अटल रूप से एक हो जाते हैं, यहां तक कि एक को दूसरे से भिन्न मानना अज्ञान प्रतीत होता है। एकीकरण को यह प्रवृत्ति अतिमानसिक चेतना और अनुभूति का आधार है; विश्वसंबंधी या सृष्टिसंबंधी प्रयोजनों के लिये अतिमानस किसी एक रूप को प्रधानतया अग्रभाग में स्थापित कर सकता है जहां कि ऐसा करने की जरूरत हो, किंतु वह इसके पीछे विद्यमान या इसमें निहित शेष सभी रूपों से सज्ञान होता है और अपने दृष्टि-

क्षेत्र में कहीं भी किसी पार्थक्य या विरोध को नहीं घुसने देता। यही कारण है कि अतिमानसिक सृष्टि एक बहुविध समस्वरता होगी, न कि पृथक्कारक प्रक्रिया जो एकमेव को खण्डों में खण्डित करे और जुदा जुदा करे और इन खण्डों की परस्पर तुलना करे या फिर इन्हें एक दूसरे के सामने विरोधी रूप में खड़ा कर दे; और फिर इसे उनमें सामंजस्य स्थापित करने के लिये उन्हें मिलाना और एक साथ जोड़ना पड़े अथवा अविभाज्य एकमेव का अनुभव करने के लिये किसी एक या सभी भागों का व्रजं करना पड़े।

तुम कहते हो कि वैष्णव संप्रदाय वैयक्तिक हर्ष और आनंद पर बल देता है, जैसा कि भावों के वर्गीकरण में, और तुम यह भी कहते हो कि ये भाव क्षणिक और चंचल वेदन हैं और इनमें विशालता तथा प्रचुरता का अभाव है। इसमें संदेह नहीं कि सीमित चेतना को अपनी साधारण क्रिया और गति में ये भाव जब पहले पहल अनुभूत होते हैं और जिस रूप में वे अनुभूत होते हैं तब और उस रूप में ये क्षणिक एवं चंचल होते हैं; किंतु ऐसा होने का एकमात्र कारण यह है कि इस अपूर्ण शरीररूपी यंत्र से युक्त मनुष्य की भावमय सत्ता जब इन भावों को उदात्त करना चाहती है तब वह, अधिकतर, तीव्रता के अल्पकालिक आवेगों से ही कार्य करती है और इन भावों के अविच्छिन्न प्रवाह या विस्तार या उदात्तीकृत प्रवेग को धारण नहीं कर सकती। परंतु जैसे जैसे व्यक्ति विश्वमय होता जाता है वैसे वैसे यह दुर्बलता दूर होने लगती है (भगवान् के केन्द्र के तौर पर अपने उच्चतर व्यक्तित्व को खोये बिना व्यक्ति का अपने आपको विश्वमय बनाना एक ऐसी प्रक्रिया है जो अतिमानसिक परम सत्य को प्राप्त कराती है)। दास्य या माधुर्य या अन्य किसी भाव या भावों के सम्मिश्रण के मूल में छिपा सत्य विशाल और प्रचुर अविच्छिन्न अवस्था का रूप धारण कर

लेता है—यदि अपनी अल्पता हैं, तो ये गति और गति में इन भावों का करता है ज उंचा उठा रूपान्तरकारी अधिक महत्ता से ये पहले में और फिर में अधिकांश श्रीकृष्ण रामानुज अ दृष्टियों में विभिन्न दि में कृष्ण के और भक्ति कृष्ण से स सब कुछ न भिन्न दृष्टि करके मानत रूप था प्रेम उसके लिये स्पष्ट ही गीता के र एवं प्रेम के सब एक सा इस विराट् भारत में के रूप में भी किया अग्रभाग की वे अभिव्य

को नहीं लेता है,—यदि, संयोगवश, ये अपने इस विस्तार से अपनी अल्पतर तीव्रताओं को कुछ कुछ खो देते हैं, तो ये विश्वमयीभूत व्यक्ति की परात्परता की ओर गति में उन्हें फिर हजारगुना प्राप्त कर लेते हैं। इन भावों का एक सदा विस्तारशील अनुभव हुआ करता है जो आध्यात्मिक उपलब्धि के तत्त्वों को ऊंचा उठा ले जाता है और इस उच्चयनकारी तथा रूपांतरकारी प्रक्रिया में ये पूर्वापेक्षया भिन्न तथा अधिक महान् वस्तुएं बन जाते हैं और उदात्तीकरण से ये पहले तो आध्यात्मिक विश्वमय अखण्ड सत् में और फिर सर्वालिंगनकारी परात्पर अखण्ड सत् में अधिकाधिक अपना स्थान प्राप्त करते जाते हैं।

श्रीकृष्ण के विषय में एक तरफ तो शंकर तथा रामानुज और दूसरी तरफ चैतन्य महाप्रभु की दृष्टियों में भेद का कारण है उनकी अनुभूति की विभिन्न दिशा। शंकर और रामानुज की दृष्टि में कृष्ण केवल विष्णु का एक रूप थे क्योंकि प्रेम और भक्ति का वह मोहन (संमोहक) रूप जो श्रीकृष्ण से संबद्ध हो गया था—वह ही उनके लिये सब कुछ नहीं था। गीता, चैतन्य की भांति, किंतु भिन्न दृष्टिकोण से, श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् करके मानती थी। चैतन्य के लिये भगवान् का स्व-रूप था प्रेम और आनंद, और चूँकि प्रेम व आनंद उसके लिये ऊंचे से ऊंचे परात्पर अनुभव थे, अतः स्पष्ट ही कृष्ण भी उनके लिये परम पुरुष ठहरे। गीता के रचयिता के लिये कृष्ण ज्ञान एवं शक्ति एवं प्रेम के मूल स्रोत थे, वे कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता सब एक साथ थे, इसीलिये आवश्यक तौर पर विष्णु इस विराट् भगवान् का केवल एक रूप था। महा-भारत में निश्चयपूर्वक कृष्ण का विष्णु के अवतार के रूप में वर्णन आता है, किंतु उसका अर्थ यूँ भी किया जा सकता है कि विष्णु के रूप को अपने अग्रभाग की आकृति के तौर पर धारण करके ही वे अभिव्यक्त हुए थे; क्योंकि यदि हम अभि-

व्यक्ति को क्रमोन्नतिशील मानें तो यह बात तो तर्क-संगत है कि अधिक महान् देवता दूसरे छोटे देवताओं से पीछे प्रकट हो सकता है,—ठीक वैसे ही जैसे कि विष्णु वेद में उपेन्द्र, छोटा इन्द्र, है, परंतु अपनेसे बड़े के अधिक निकट हो जाता है और फिर पीछे त्रिमूर्ति में उससे ऊंचा स्थान ले लेता है।

कृष्ण के रूप के संबंध में जो वैष्णव विचार हैं उसके बारे में मैं अधिक कुछ नहीं कह सकता। रूप अभिव्यक्ति का आधारभूत साधन है और यह कहा जा सकता है कि इसके बिना किसी भी वस्तु की अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं होती। यद्यपि तार्किक दृष्टि से निराकार सत् आकार के पहले विद्यमान रहता है तथापि यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं कि निराकार सत् में आकार अन्तर्निहित है और पहले से ही रहस्यमयी अव्यक्तावस्था में विद्यमान है, अन्यथा वह व्यक्त ही कैसे हो सकता था? क्योंकि अन्य किसी प्रक्रिया का अर्थ होगा असत् की उत्पत्ति, न कि अभिव्यक्ति। यदि ऐसा ही हो तो यह कल्पना करना भी उतना ही तर्कसंगत होगा कि कृष्ण का एक नित्य रूप, आत्ममय शरीर है। जहां तक सर्वोच्च सद्रस्तु का प्रश्न है वहां तक इसमें संशय नहीं कि उसका नित्य रूप है निरपेक्ष सत्ता, किंतु क्या केवल यही? निरपेक्ष सत्ता निर्विशेषभाव (अमूर्तभाव) के रूप में अपनेसे इतर सभी वस्तुओं का व्यावर्त्तन कर सकती है (उन्हें अपनेसे पृथक् कर सकती है) और एक प्रकार के अत्यंत भावात्मक शून्य के तुल्य हो सकती है; परंतु निरपेक्ष सत् की, जो परम तत्त्व है, परिभाषा भला कौन कर सकता है और कौन कह सकता है कि वह अपनी अचित्य गहराइयों में, अपने अपरिमेय परम रहस्य में क्या है या क्या नहीं है? मन निरपेक्ष सत्ता के संबंध में साधारणतया यही चिंतन कर सकता है कि वह इसके देश-कालसंबन्धी तथा अन्य प्रत्ययों (concepts) का केवल निषेध-रूप है। परंतु

मन इस विषय में कुछ नहीं बता सकता कि अभिव्यक्ति के आधार में कौनसी सत्ता विद्यमान है या अभिव्यक्ति का क्या स्वरूप है, सत्ता के भावात्मक शून्य में से किसी प्रकार की भी अभिव्यक्ति भला क्योंकर होती है—और वैष्णव, हमें स्मरण रखना होगा, इस विचार को भगवान् के पूर्ण और मूल सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करते। अतएव यह किसी तरह भी असंभव नहीं कि जिसे हम दैशिक

रूप मानते या अनुभव करते हैं वह देशातीत निरपेक्ष सत् की किसी शक्ति का प्रतिरूप है। यह सब परम सत्य के निश्चित वर्णन के रूप में नहीं कहा रहा हूँ, मैं केवल इस तरफ निर्देश कर रहा हूँ कि याद की किसी तरह भी नहीं कही जा सकती कि वैष्णव पक्ष अपने स्थापनारूपी आधार पर तार्किक या दार्शनिक दृष्टि से टिक ही नहीं सकता।



मैं दूँ?

‘मैं तुझे दूँ’ की बात अर्थहीन है। तूने जो दिया है उसे मानो तू ही व्यय कर रही है ऐसी, उपयोग करने की, कला सीख लूँ यही एकमात्र इच्छा है। ‘दूँ लूँ’ ‘दूँ लूँ’ का नाद जतलाता है कि तेरे और मेरे बीच लाखों कोसों का अन्तर है। यह अन्तर दूर करना है।

और बाद में?

बाद में देने के ख्याल के बिना देना है। लेने के ख्याल के बिना लेना है। पृथ्वी पर पृथ्वीतत्त्व के दाग से रहित जीवन जीना है।

—गिरधरलाल

श्रीअरविन्द

सभी म
हैं, वे जड़प्र
में उसकी
हममें ऐसा
आपको सर्व
में सौंप दें
दाओं को अ
अनंत देव
करना हम
हमें संकोच
मुक्त, अनंत
लगानी हो
व्यक्तिक मान
मानदण्डों
एक अवैयक्ति
वल और
के पश्चात्
आरोहण
रिक्त जीवन
के वशीभूत
मय तथा
हितों, अस्म
और शिखर
तथा आध्य
नित्य चेत
जिज्ञासाएं
शारीरिक

श्रीअरविन्द का योग-समन्वय-

कर्मयोग

आठवां अध्याय

परम इच्छाशक्ति

सभी मानदण्ड और नियम अस्थायी रचनाएं हैं, वे जड़प्रकृति से आत्मा की ओर अहं के संक्रमण में उसकी आवश्यकताओं पर आधारित हैं। यदि हममें ऐसा विश्वास एवं साहस नहीं कि हम अपने आपको सर्वलोकमहेश्वर तथा सर्वभूतमुहूर्त् के हाथों में सौंप दें और अपनी मानसिक सीमाओं एवं मर्यादाओं को अपनेसे सर्वथा दूर कर दें तो सनातन तथा अनंत देव के आध्यात्मिक सत्य में पूर्णतया प्रवेश करना हमारे लिये संभव नहीं। एक न एक दिन हमें संकोच, अवशेष वा भय वा संशय के बिना मुक्त, अनंत तथा परिपूर्ण ब्रह्म के महासागर में डुबकी लगानी होगी। विधान के अनंतर है स्वातंत्र्य; वैयक्तिक मानदण्डों, सार्वजनिक मानदण्डों, सार्वभौम मानदण्डों के बाद भी कोई अधिक महान् वस्तु है, एक अवैयक्तिक नमनीयता, दिव्य स्वतंत्रता, लोकोत्तर बल और स्वर्गीय संवेग है। आरोहण के संकीर्ण पथ के पश्चात् हैं शिखर पर विस्तीर्ण अधित्यकाएं।

आरोहण के तीन क्रम हैं,—सबसे नीचे है शारीरिक जीवन जो आवश्यकता तथा कामना के दबाव के वशीभूत है, मध्य में है मानसिक, उच्चतर भाव-मय तथा आन्तरात्मिक नियम जो कि अधिक महान् हितों, अभीप्साओं, अनुभवों, विचारों को टोहता है और शिखर पर पहले तो है गंभीरतर आन्तरात्मिक तथा आध्यात्मिक भूमिका और फिर अतिमानसिक नित्य चेतना जिसमें हमारी सब अभीप्साएं तथा जिज्ञासाएं अपना अन्तरीय अर्थ जान लेती हैं। शारीरिक जीवन में सर्वप्रथम कामना एवं आवश्य-

कता और तदनंतर व्यक्ति तथा समाज का क्रियात्मक हित ही प्रभुत्वशाली विचार तथा प्रधान प्रेरक-बल होते हैं। मानसिक जीवन में विचारों तथा आदर्शों का प्रभुत्व होता है, उन विचारों का जो कि सत्य का वेप धारण किये हुए अर्द्ध-प्रकाश हैं, उन आदर्शों का जो कि वृद्धिशील पर अभी अपूर्ण अन्तर्ज्ञान तथा अनुभव के परिणाम के रूप में मन द्वारा विरचित होते हैं। जब कभी मानसिक जीवन प्रबल होता है तथा शारीरिक जीवन अपने पाशविक आग्रह को कम कर देता है, तब मनुष्य, मनोमय प्राणी, अपने आपको मानसिक विश्वप्रकृति के उस आवेग से प्रेरित अनुभव करता है जो व्यक्ति के जीवन को विचार वा आदर्श की भावना में ढाल देने का आवेग होता है, और अंत में समाज का अधिक अनिश्चित एवं अधिक जटिल जीवन भी इस सूक्ष्म प्रक्रिया में से गुजरने को विवश किया जाता है। आध्यात्मिक जीवन में, अथवा उस अवस्था में जब कि मन से अधिक ऊंची शक्ति प्रकट हो चुकती तथा प्रकृति को अपने अधिकार में कर लेती है, ये सीमित प्रेरक-बल पीछे हटते, क्षीण होते, लुप्त होते जाते हैं। एकमात्र आध्यात्मिक वा अतिमानसिक आत्मा, दिव्य पुरुष या परात्पर तथा विश्वगत सद्रस्तु को ही हमारा हृद्देशस्थ ईश्वर होना चाहिये तथा उसे हमारी प्रकृति के नियम वा धर्म की उच्चतम, विशालतम, सर्वांगीणतम संभव अभिव्यक्ति के अनुसार हमारे चरम विकास को स्वच्छन्दतया गढ़ना चाहिये।

*

*

जो कोई भी व्यक्ति सच्चाई के साथ कर्मों के पथ में प्रवेश करता है उसे उस अवस्था को अपनेसे कोसों दूर छोड़ देना होगा जिसमें कि आवश्यकता तथा कामना हमारे कार्यों का प्रथम नियम होती हैं। क्योंकि जो कोई भी इच्छाएं अभी तक उसकी सत्ता को व्याकुल करती हैं उनको उसे—यदि वह योग के उच्च ध्येय को अपनाता है तो—अपनेसे पृथक् कर स्वान्तःस्थित ईश्वर के हाथों में सौंप देना होगा। परम शक्ति साधक के मंगल के लिये तथा सबके मंगल के लिये उन इच्छाओं के साथ वरतेगी। परिणामस्वरूप, हम देखते हैं कि जब एक बार यह समर्पण किया जाता है,—सदैव यह शर्त तो है ही कि परित्याग सच्चा हो,—तो पुरानी प्रकृति के अविरत आवेग के वश कामना में अहंभावमय रमण कुछ काल के लिये फिर भी उभर सकता है पर केवल इसलिये कि इसकी अजित गतिशक्ति को समाप्त कर सके तथा कामना की प्रतिक्रियाओं द्वारा, उसके दुःख तथा बेचैनी द्वारा—जो दुःख तथा बेचैनी उच्चतर शांति की प्रसादपूर्ण घड़ियों किंवा दिव्य आनंद की अद्भुत गतियों से तीव्रतया विरुद्ध होती हैं—शरीर-धारी प्राणी को उसकी सत्ता के अत्यंत अशिक्षणीय अंग में, उसकी स्नायवीय, प्राणिक, भावुक प्रकृति में यह सिखा सके कि अहंभावमयी कामना उस आत्मा के लिये धर्म नहीं जो मुक्ति चाहती है अथवा अपनी मूल देव-प्रकृति के लिये अभीप्सा करती है। कर्म करना, उपभोग करना स्नायवीय सत्ता का स्वाभाविक नियम तथा अधिकार है; किंतु वैयक्तिक कामना से अपने कर्म तथा भोग का चुनाव करना उसकी अज्ञानयुक्त इच्छामात्र है, उसका अधिकार नहीं। चुनाव तो परम तथा विश्वव्यापिनी इच्छा-शक्ति को ही करना होगा; कर्म को उस परम इच्छाशक्ति की प्रबल गति में बदल जाना होगा; भोग का स्थान शुद्ध आध्यात्मिक आनंद की क्रीड़ा को लेना होगा। समस्त वैयक्तिक इच्छा या तो

ऊपर से प्राप्त अस्थायी प्रतिनिधित्व है या फिर अज्ञानी असुर द्वारा स्वत्वापहरण।

सामाजिक नियम, हमारी उन्नति की वह दूसरी अवस्था, एक साधन है जिससे अहं को वश में रखा जाता है इसलिये कि वह विस्तीर्णतर सामूहिक अहं के प्रति अधीनता के द्वारा अनुशासन सीख सके। इस प्रकार का समर्पण कर चुकने के बाद, साधक के सामाजिक आवेग तथा निर्णय, उसकी कामनाओं की भांति, केवल इसलिये काम में लाये जायेंगे कि वे दग्धबीज हो जायें अथवा, यह भी संभव है कि जहां तक ये कुछ काल के लिये अब भी आवश्यक हैं वहां तक, ये उसे इस योग्य बनाने के लिये काम में लाये जायेंगे कि वह अपनी निम्नतर मानसिक प्रकृति को सामान्य रूप से मानवजाति के साथ या मानवजाति के किसी समूह-विशेष के साथ जाति वा समूह की चेष्टाओं व आशाओं व अभीप्साओं में एकाकार कर सके। परंतु वह अल्प काल बीत जाने के बाद, ये हटा लिये जायेंगे और एकमात्र दिव्य शासन ही स्थिर रहेगा। वह भगवान् के साथ तथा दूसरों के साथ दिव्य चेतना के द्वारा ही न कि मनोमय प्रकृति के द्वारा एकमय होगा।

अब रहा नैतिक नियम या आदर्श; ये उन बहुत से लोगों को भी जो अपनेको स्वतंत्र समझते हैं, सदैव पवित्र एवं अत्यंत सूक्ष्म प्रतीत होते हैं। परंतु साधक, अपनी दृष्टि सदा ऊर्ध्वमुखी रहने के कारण, इन्हें उस भगवान् के प्रति उत्सर्ग कर देगा जिसे प्रकट करने के लिये समस्त आदर्श अपूर्णतः तथा अंशतः चेष्टा करते हैं; सभी नैतिक गुण उसके स्वभावसिद्ध तथा असीम पूर्णत्व के तुच्छ तथा कठोर हास्यास्पद अभिनयमात्र हैं। स्नायवीय या प्राणिक कामना के मिटने के साथ ही साथ पाप एवं अशुभ का बंधन भी मिट जाता है; क्योंकि यह हमारे अंदर के प्राणगत आवेशरूपी गुण से, प्रवृत्त्यर्थ प्रेरण या परिचालनरूपी रजोगुण से संबंध रखता

है और वि
छिन्न भिन्न
भूत या अ
अथवा कि
की भी सु
नहीं रहन
को मनुष्य
अधिक सा
छित होगे
सर्वप्रथ
को साधक
वा पथ
वह धर्म व
है, परा
कि उसकी
निःसंदेह य
क्योंकि अ
प्रकृति-तत्
यह तत्त्व
है या उ
चक्कर व
ब्राह्मण या
या कर्मी
मौलिक म
दरेगा जो
द्वारा निय
कार्यों में
प्रकृति (न
वाहर से
किसी वि
तया निय
परंतु
है जिसमे
हो जाती

है और विश्वप्रकृति के इस गुण का रूपांतर ही है। परंतु अभीष्ट को रूढ़ि-छिन्न भिन्न हो जाता है। परंतु अभीष्ट को रूढ़ि-भूत या अभ्यासगत या मानसिक रूप से व्यवस्थापित अथवा किसी उच्च या निर्मल सात्त्विक पुण्य कर्म की भी सुवर्णरंजित या सुवर्णीय शृंखला से आवद्ध नहीं रहना होगा। जिस क्षुद्र एवं न्यूनतापूर्ण वस्तु को मनुष्य पुण्य कहते हैं उससे अधिक गंभीर तथा अधिक सारभूत कोई वस्तु पुण्य के स्थान पर प्रतिष्ठित होगी।

सर्वप्रथम, उच्चतर प्रेम तथा सत्य अपनी गति को साधक में उसकी निजी प्रकृति के सारभूत धर्म वा पथ के अनुसार चरितार्थ करेगा। क्योंकि वह धर्म वा पथ दिव्य विश्वप्रकृति का विशेष रूप है, परा शक्ति का विशिष्ट शक्त्यंश है, जिसमेंसे एक उसकी अन्तरात्मा लीला में आविर्भूत हुई है— निःसंदेह यह इस धर्म वा पथ के रूपों से सीमित नहीं, क्योंकि आत्मा सीमारहित है। परंतु तो भी इसके प्रकृति-तत्त्व पर उस प्रभाव की छाप पड़ी हुई है और यह तत्त्व उन दिशाओं में निर्बाध विकसित होता है या उस प्रबल प्रभाव के चक्राकार मोड़ों पर चक्कर काटता है। साधक दिव्य सत्य-गति को ब्राह्मण या सिंह-सदृश योद्धा या प्रेमी तथा उपभोक्ता या कर्मी एवं सेवक के स्वभाव के अनुसार अथवा मौलिक गुणों के किसी अन्य ऐसे संयोग में प्रकट करेगा जो उसकी सत्ता के अपनी ही आन्तर प्रेरणा द्वारा नियत आकार का गठन करनेवाला हो। उसके कार्यों में स्वच्छंद क्रीड़ा करती हुई उसकी इस स्व-प्रकृति (स्व-धर्म) को ही मनुष्य उसमें देखेंगे न कि बाहर से लादे गये किसी क्षुद्रतर नियम द्वारा या किसी विधान द्वारा गठित, निर्धारित तथा कृत्रिम-तया नियमित आचार को।

परंतु इससे और भी ऊंची उपलब्धि है, एक आनंत्य है जिसमें यह अन्तिम नियम-मर्यादा भी अतिक्रान्त हो जाती है, क्योंकि प्रकृति पूर्णतया परितृप्त हो जाती

है तथा उसकी सीमाएं विलुप्त हो जाती हैं। वहां आत्मा सर्वविध सीमाओं से विमुक्त होकर रहती है; क्योंकि वह अपने अंदर की दिव्य इच्छाशक्ति के अनुसार सभी रूपों तथा सांचों का प्रयोग करती है, पर वह जिस किसी भी शक्ति या रूप को उपयोग में लाती है उससे नियंत्रित नहीं होती, उससे आवद्ध नहीं होती, उसमें बन्दीकृत नहीं होती। यह कर्ममार्ग का शिखर है और यही है आत्मा की उसके कर्मों में पूर्ण स्वाधीनता। वास्तव में, वहां इसके कर्म कोई होते ही नहीं; क्योंकि इसकी सभी चेष्टाएं परमदेव की स्वरलहरी होती हैं तथा अनंत में से स्वतःस्फूर्त संगीत के समान 'तत्' से ही स्व-तंत्रतया निःसृत होती हैं।

★

अतएव समर्पण ही कर्मयोग का साधन तथा ध्येय है—अपनी समस्त क्रियाओं का परम तथा विश्वव्यापी इच्छाशक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण, अंशेष कर्मों का अपने अन्तःस्थित किसी ऐसी नित्य सत्ता के शासन के प्रति विना शर्त तथा नियममर्यादारहित समर्पण जो कि अहं-प्रकृति की साधारण कर्मप्रणाली का स्थान ले लेगी। परंतु वह दिव्य परम इच्छाशक्ति क्या है तथा वह हमारे भ्रमयुक्त करणों एवं हमारी अंध बन्दीकृत बुद्धि द्वारा कैसे पहचानी जा सकती है?

साधारणतया, हम अपने विषय में ऐसा सोचते हैं कि हम संसार में पृथग्भूत "अहं" हैं जो कि पृथक् शरीर तथा मनोमय एवं नैतिक प्रकृति पर शासन करता है, अपने स्व-निर्धारित कार्यों को पूरी स्वाधीनता से चुनता है और स्वतंत्र है तथा इसी कारण अपने कर्मों का एकमात्र स्वामी है एवं उत्तरदायी भी। यह कल्पना करना कि कैसे हममें इस प्रतीयमान "अहं" तथा उसके साम्राज्य की अपेक्षा अधिक सत्य, अधिक गंभीर, अधिक शक्तिशाली कोई अन्य वस्तु हो सकती है साधारण मन के लिये सुगम नहीं—उस मन के लिये जिसने अपनी रचना

तथा रचनाकारी तत्त्वों पर विचार नहीं किया है तथा उनके मूल में गंभीरतया दृष्टि नहीं डाली है, यह उन मनो के लिये भी कठिन है जिन्होंने चिंतन तो किया है पर जिन्हें आध्यात्मिक दृष्टि एवं अनुभूति प्राप्त नहीं है।

यह अहं या “मैं” स्थायी सत्य नहीं, हमारा सार-भूत भाग तो और भी कम; यह विश्वप्रकृति की रचनामात्र है, उसका रूप है, बोधग्राही तथा विवेक-कारी मन में यह विचार का केन्द्रीकारक मानसिक रूप है, हमारे प्राणमय भागों में यह भाव तथा संवेदन का केन्द्रीकारक प्राणिक रूप है, हमारे शरीरों में इसका रूप है शारीरिक सचेतन ग्रहण जो स्थूल तत्त्व तथा स्थूल तत्त्व के व्यापार को केन्द्रस्थ करता है। आन्तरिक तौर पर हम जो कुछ हैं वह अहं नहीं, बल्कि चेतना, अन्तरात्मा या आत्मसत्ता है। बाहर से एवं स्थूल रूप में हम जो कुछ हैं तथा जो कुछ करते हैं वह अहं नहीं बरन् विश्वप्रकृति है। कर्त्री वैश्व शक्ति हमारा रूप गढ़ती है और इस प्रकार गठित हमारी प्रकृति तथा परिस्थिति एवं मनोवृत्ति के द्वारा, वैश्व शक्तियों से रचित हमारी व्यष्टिभावापन्न रूप-रचना के द्वारा, हमारे कार्यों तथा उनके परिणामों को प्रेरित वा निर्दिष्ट करती है। वास्तव में, विचार, इच्छा वा कर्म हम नहीं करते बल्कि विचार हममें उदित होता है, इच्छाशक्ति हममें उद्भूत होती है, आवेग तथा कर्म हममें घटित होते हैं; हमारी अस्मिता वा अहंभाव प्राकृतिक चेष्टाओं के इस समस्त प्रवाह को अपने चारों ओर एकत्र कर लेता है, इसे अपने सम्मुख विचारार्थ उपस्थित करता है। वैश्व शक्ति ही, विश्वप्रकृति ही विचार को रचती, इच्छाशक्ति को बलात् आरोपित करती, प्रेरणा को प्रदान करती है। हमारा शरीर, मन तथा अहं उस क्रियाप्रवृत्त शक्ति-समुद्र की तरंग हैं और उसपर शासन नहीं करते प्रत्युत उससे शासित तथा

परिचालित होते हैं। सत्य तथा आत्म-ज्ञान की ओर प्रगति करते करते साधक को ऐसे स्थल पर पहुंचना होगा जहां आत्मा अपने दिव्य दृष्टि के नयन खोलती है और इस अहंसंबंधी सत्य तथा इस कर्मसंबंधी सत्य को पहचानती है। साधक इस विचार को त्याग देता है कि कोई मानसिक, प्राणिक, शारीरिक “अहं” है जो कर्म करता या कर्म का संचालन करता है; वह यह जान जाता है कि प्रकृति, वैश्व प्रकृति की शक्ति अपने निश्चित गुणों का अनुसरण करती हुई उसमें तथा सभी पदार्थों तथा प्राणियों में एक ही तथा अकेली कर्म करनेवाली है।

परंतु किस वस्तु ने विश्वप्रकृति के गुणों को निश्चित किया है? अथवा शक्ति की गतियों का मूल-स्रोत एवं अधिष्ठाता कौन है? इसके मूल में अवस्थित है एक चेतना अथवा चित् जो इसके कर्मों का स्वामी, साक्षी, ज्ञाता, भोक्ता, धर्त्ता तथा अनुमन्ता है; यह चेतना है आत्मा या पुरुष। प्रकृति हममें कर्म को आकार देती है; पुरुष उसमें या उसके पीछे रहकर उसे साक्षिभाव से देखता है, अनुमति देता, धारण तथा भरण करता है। यह पुरुष उपरितलीय अहं नहीं प्रत्युत अहं के मूल में स्थित प्रवात आत्मा है, शक्ति का स्रोत है, ज्ञान का जनक तथा ग्रहीता है। हमारी मानसिक “मैं” इस आत्मा, इस शक्ति, इस ज्ञान की मिथ्या प्रतिच्छायामात्र है। अतः यह पुरुष या भरण करनेवाला चैतन्य प्रकृति के अखिल कर्मों का मूल, ग्रहणकर्त्ता तथा आधार है, पर यह स्वयं कर्त्ता नहीं है। पुरोभागस्थ प्रकृति, प्रकृतिशक्ति तथा उसके मूल में विद्यमान शक्ति, चित्-शक्ति, आत्म-शक्ति, क्योंकि यही दो विश्वजननी के आन्तर तथा बाह्य रूप हैं,—उस सबकी व्याख्या कर देती हैं जो कुछ कि संसार में होता है। विश्वजननी, प्रकृति-शक्ति ही एकमात्र तथा अकेली कर्म करनेवाली है।

पुरुष-प्रकृति, चित्-शक्ति, आत्मा और उससे धारित विश्वप्रकृति,—क्योंकि ये दोनों अपने पार्थक्य में

भी एक त
व्याप्त तथ
में भी कोई
कोई ऐसी
अभिन्न है।
या अंश है।
जीव, व्य
आत्मा है ज
करती प्रती
प्रकृति की
गंभीरतम व
अनंततया
अंशमात्र न
आध्यात्मिक
हमारी विश
करता। प
रात्मा या उ
में तल्लीन
विचार से
छुटकारा प
जानना है।
प्रतिच्छाया
में इसकी च
पुरुष भी क
कर्त्ता नहीं
चेतना कर्त्ता
त्पर तथा फ

*ईश्वर-

पृथक् पृथक्
है वह पुरु
शासन कर
कार्य करत
की उपस्ति

भी एक तथा अविभक्त हैं,—एक साथ ही विश्व-व्याप्त तथा विश्वातीत शक्ति है। परंतु व्यक्ति में भी कोई ऐसी चीज है जो मानसिक अहं नहीं, कोई ऐसी चीज जो इस महत्तर सद्रस्तु से सारतः अभिन्न है : यह उस एकमेव पुरुष का शुद्ध प्रतिबिम्ब या अंश है; यह अन्तरात्मा, व्यक्ति या शरीरधारी जीव, व्यक्तिगत आत्मा, जीवात्मा है; यह शुद्ध आत्मा है जो अपने बल एवं ज्ञान को इसलिये सीमित करती प्रतीत होती है कि परात्पर तथा विश्वगत प्रकृति की वैयक्तिक क्रीड़ा को आश्रय दे सके। गभीरतम वास्तविकता के क्षेत्र में अनंततया 'एक' अनंततया 'बहु' भी है; हम 'तत्' के प्रतिबिम्ब या अंशमात्र नहीं प्रत्युत हम 'तत्' ही हैं; हमारा आध्यात्मिक व्यक्तित्व, हमारे अहं के असमान, हमारी विश्वमयता तथा परात्परता का निषेध नहीं करता। परंतु इस समय हमारी अन्तःस्थ अन्तरात्मा या आत्मा विश्वप्रकृति में व्यष्टिभाव-संपादन में तल्लीन रहने के कारण अपने आपको अहं के विचार से भ्रान्त होने देती है; उसे इस अज्ञान से छुटकारा पाना है, उसे अपने आपको इस रूप में जानना है कि वह परम तथा विश्वव्यापी आत्मा की प्रतिच्छाया वा अंशमूर्ति या सत्ता है और विश्वकर्म में इसकी चेतना का केन्द्रमात्र है। परंतु यह जीव-पुरुष भी कर्मों का कर्त्ता नहीं है वैसे ही जैसे कि अहं कर्त्ता नहीं है, या जैसे द्रष्टा तथा ज्ञाता की धारक चेतना कर्त्री नहीं है। पुनरपि और सदा-सर्वदा परात्पर तथा विश्वव्यापिनी शक्ति ही एकमात्र कर्त्री है।

परंतु उसके पीछे अवस्थित है एकमेव परम देव जो उसमेंसे युगलरूप शक्ति, पुरुष-प्रकृति, ईश्वर-शक्ति* के रूप में प्रकट होता है।

★

यदि कर्मविषयक सत्य यही है तो सबसे पहली चीज जो साधक को करनी होगी वह यह है कि वह कर्म के अहंकारमय रूपों से पीछे हटे तथा इस भावना से मुक्त हो कि कोई "मैं" है जो कार्य करती है। उसे यह देखना तथा अनुभव करना होगा कि जो कोई भी चीज उसमें घटित होती है वह उसके उन मानसिक तथा शारीरिक करणों की सुनम्य सचेतन वा अवचेतन या कभी कभी पराचेतन सहज प्रक्रिया से घटित होती है जो करण कि आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक विश्वप्रकृति की शक्तियों से परिचालित होते हैं। उसके उपरितल पर एक व्यक्तित्व है जो चुनाव करता तथा इच्छा करता है, दब जाता तथा संघर्ष करता है, विश्वप्रकृति में सुनिश्चित स्थिति में रहने या विश्वप्रकृति पर विजय प्राप्त करने का यत्न करता है, पर यह व्यक्तित्व स्वयं विश्वप्रकृति की रचना है तथा यह उससे इस प्रकार शासित, परिचालित तथा निर्धारित है कि यह स्वतंत्र नहीं हो सकता। यह उसमें निहित आत्मा की रचना या अभिव्यक्ति है,—यह आत्मा की अंशभूत आत्मा होने की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकृति का अंशभूत 'स्व' है, यह आत्मा की प्राकृतिक तथा बाह्यक्रियामयी सत्ता है, न कि उसकी आध्यात्मिक तथा शाश्वत सत्ता, अस्थायी निर्मित व्यक्तित्व है,

*ईश्वर-शक्ति और पुरुष-प्रकृति बिल्कुल ही एक चीज हों ऐसी बात नहीं; क्योंकि पुरुष और प्रकृति पृथक् पृथक् शक्तियां हैं, पर ईश्वर और शक्ति अपने अंदर एक दूसरे को समाविष्ट करती हैं। ईश्वर है वह पुरुष जो प्रकृति को अपने अन्तर्गत रखता है तथा अपने अंदर विराजमान शक्ति के सामर्थ्य से शासन करता है। शक्ति है वह प्रकृति जो पुरुषरूप आत्मा से युक्त है तथा ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करती है; ईश्वर की इच्छा उस शक्ति की अपनी ही इच्छा है तथा अपनी गति में वह ईश्वर की उपस्थिति को सदा अपने साथ साथ लिये चलती है।

न कि वास्तविक अमर व्यक्ति। साधक को वही अमर व्यक्ति बनना होगा। उसे आन्तरिक तौर पर निश्चल बनने में सफल होना होगा, बाह्य क्रियाशील व्यक्तित्व से अपने आपको निरीक्षक के रूप में जुदा कर लेना होगा और वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा के पैतरो तथा गतियों में समस्त अंधीकारक लवलीनता से पीछे हटकर अपने अंदर हो रही उनकी इस क्रीड़ा का अध्ययन करना होगा। इस प्रकार निश्चल, शान्त, अनासक्त, आत्म-स्वाध्यायशील* तथा अपनी प्रकृति का द्रष्टा बनकर, वह अनुभव करता है कि वह व्यष्टि-रूप आत्मा है जो विश्व-प्रकृति के कर्मों का निरीक्षण करती है, उसके परिणामों को शांत भाव से स्वीकार करती है तथा प्राकृतिक कर्मसंबंधी आवेग को अनुमति देती या उससे अपनी अनुमति हटा लेती है। इस प्रकार वह मानसिक नियंत्रण या अहंभावमयी इच्छाशक्ति के स्थान पर आन्तरिक आध्यात्मिक संयम सीखता है जो उसे उसके अंदर काम करनेवाली प्रकृति-शक्तियों का स्वामी बना देता है न कि उनका अचेतन यंत्र या जड़ दास। उसके ऊपर तथा चारों ओर विराजमान है शक्ति, जगज्जननी और उससे वह वे सब चीजें प्राप्त कर सकता है जिनकी आवश्यकता वा इच्छा उसकी अन्तस्तम आत्मा को होती है यदि केवल उसे उस जननी की प्रणालियों का सत्य ज्ञान हो तथा उसमें निहित दिव्य इच्छाशक्ति के प्रति सच्चा समर्पण हो। अन्त में, वह अपने भीतर तथा विश्वप्रकृति के भीतर उस सर्वोच्च क्रियाशील आत्मा से सज्ञान हो जाता है जो कि उसके सब 'देखने' तथा 'जानने' का स्रोत है, अनुमति का स्रोत, स्वीकृति का स्रोत, परित्याग का स्रोत है। यह है महेश्वर, परात्पर देव, सर्वगत एक, ईश्वरशक्ति जिसका कि अंशभूत है उसकी आत्मा, अर्थात् उस

परम सत्ता का सत्तांश तथा उस परम शक्ति का शक्त्यंश।

जब हमारी व्यष्टिगत आत्मा अपने अस्तित्व तथा ज्ञान में ईश्वर से पूर्णतः एकीभूत तथा आद्याशक्ति परात्परा माता से साक्षात् संबंधयुक्त होती है, तब हममें भी परम इच्छाशक्ति उच्च दिव्य प्रकार से उद्भूत हो सकती है, एक ऐसी वस्तु के रूप में जो विश्वप्रकृति की सहजस्फूर्त क्रिया से संपन्न होनी निश्चित ही है तथा संपन्न होती है। तब कोई कामना, कोई उत्तरदायित्व, कोई प्रतिक्रिया नहीं रहती; आश्चर्यदायी तथा सर्वतोव्यापी एवं अन्तर्वासी भगवान् की शांति, निश्चलता, ज्योति एवं शक्ति में ही सब कुछ घटित होता है।

निःसंदेह हम वृद्धिशील उन्नति की तीन अवस्थाओं का विभागशः वर्णन कर सकते हैं। प्रथम अवस्था में व्यक्तिगत इच्छाशक्ति अपनेसे परतर परम इच्छाशक्ति या चिच्छक्ति से यदा कदा या बहुधा आलोकित वा प्रेरित होती है, तदनंतर उससे निरंतर स्थानच्युत की जाती और, अन्त में, उस दिव्य बल-क्रिया में एकीभूत एवं निमज्जित हो जाती है। प्रथम अवस्था वह है जब कि हम अभी बुद्धि, हृदय तथा इन्द्रियों से संचालित होते हैं; इन बुद्धि आदि को दिव्य स्फुरणा तथा पथप्रदर्शन की खोज अथवा प्रतीक्षा करनी होती है और उसे ये सदा ही उपलब्ध अथवा ग्रहण नहीं करते। दूसरी अवस्था वह है जब कि उच्च प्रकाशित या अन्तर्ज्ञानात्मक अध्यात्मभावापन्न मन मानवीय बुद्धि का स्थान उत्तरोत्तर ग्रहण करता जाता है, आन्तर आन्तरात्मिक हृदय बाह्य मानवीय हृदय का और विशुद्ध एवं निःस्वार्थ प्राणिक बल इन्द्रियों का स्थान अधिकाधिक लेता जाता है। तीसरी अवस्था वह है जब हम अध्यात्मभावापन्न मन के भी ऊपर उठकर अतिमानसिक स्तरों पर पहुंच जाते हैं।

*स्व + अध्यायशील अर्थात् अपने आपको या अपनी आत्मा का अध्ययन करनेवाला। -अनु.

इन तीनों ही अवस्थाओं में मुक्त क्रिया का मूल-भूत स्वरूप एक ही है,—प्रकृति की स्वतःस्फूर्त क्रिया, पूर्ववत् अहं के द्वारा या उसके लिये नहीं प्रत्युत परम पुरुष की इच्छा के अनुसार तथा उसके भोग के लिये। और भी ऊँचे स्तर पर यह क्रिया केवल तथा विश्वमय परब्रह्म का परम सत्य बन जाती है जो सत्य कि व्यष्टिगत आत्मा द्वारा व्यक्त होता तथा प्रकृति द्वारा सचेतनतया कार्यान्वित किया जाता है। निम्नतर क्रिया में से उच्चतर ज्योति तथा शुद्धतर शक्ति में शनैः शनैः उदित होने का काल पूर्णता के प्रयासी के लिये मृत्यु के अंधकार की उप-त्यका है; यह परीक्षाओं, यातनाओं, दुःखों, अज्ञाना-वरणों, स्खलनों, भ्रांतियों, गर्तजालों से संकुल

भीषण पथ है। इस अग्निपरीक्षा को संक्षिप्त तथा हलका करने के लिये अथवा इसमें दिव्य आनंद का अन्तःसंचार करने के लिये अपेक्षित है श्रद्धा, मन का उस ज्ञान के प्रति वृद्धिशील समर्पण जो अपनेको भीतर से हमपर आरोपित करता है और, सबसे बढ़कर, सच्ची अभीप्सा और यथार्थ तथा अविचलित एवं निष्कपट अभ्यास। गीता कहती है “निराशारहित हृदय के साथ, स्थिरचित्त होकर, योग का अभ्यास करो”; क्योंकि पथ की प्रारंभिक अवस्था में हमें चाहे आन्तरिक कलह एवं दुःख के तीक्ष्ण गरल के बड़े लंबे घूंट पीने पड़ते हैं, तो भी इस प्याले का अन्तिम स्वाद है अमरता के अमृत की मधुरिमा तथा नित्य आनंद की सोमसुरा।

कर्मों का आनन्द

तेरे कर्मों में सदा ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं—स्वामी, कार्यकर्ता और यंत्र। इन्हें अपने अन्दर ठीक प्रकार से लक्षित कर लेना और ठीक प्रकार से अपने में धारण करना ही कर्मों का तथा कर्मों के आनन्द का रहस्य है। पहले तू परमेश्वर का यन्त्र होना और उसे स्वामी स्वीकार करना सीख। इसके बाद फिर दूसरा कदम उठा, अपने आपको कार्यकर्ता-रूप से जान। तेरी प्रकृति कार्य करनेवाली है यह समझ और तेरी निजी प्रकृति तथा विश्व-प्रकृति ये तू ही है, तेरा ही स्वरूप है यह समझ। अन्त में तू स्वामी को अपना आप करके जान। स्वामी का आनन्द प्राप्त हो गया तो फिर तेरे लिये कोई और वस्तु विजय करने की नहीं रही। क्योंकि वह तुझे अपन आपको ही दे देगा तथा सब वस्तुएं देगा और सब प्राणी जो कुछ भी प्राप्त करते हैं, रखते हैं, करते हैं, भोगते हैं उस सबके तेरे निजी उचित हिस्से को देगा; और वह तुझे वह वस्तु भी देगा जिसके हिस्से नहीं किये जा सकते। तू अपनी सत्ता में अपन आपको तथा अन्य सबको समा लेगा और तू वह हो जायगा जो न तो तू है और न अन्य सब। कर्म की यह है पूर्णता-प्राप्ति और पराकाष्ठा।

श्रीअरविन्द की 'Jivanmukta'

कविता का अनुवाद

जीवन्मुक्त

है एक 'नीरवता' जिसका आभास तक पाती नहीं
धरातल की मूक चेतना; वह तो निष्कंप विराजमान
उस जीव में बना हुआ जो शाश्वत का चरण-आसन,
पा लिया जिसने अनन्तता का नित्य स्पर्श ।

है यहां इक 'दिव्य-छटा', जो बाह्य-दृष्टि से ओझल,
गुहा-निहित, ज्वालामंडित, सर्वदर्शी नेत्र से प्रवाहमान;
प्रकट हो चेत उठती वह जब भागवत नीरवता
छा जाती नभ-सम प्रकृति महासागर पर ।

उतर आती एक 'शक्ति' जो काल-चक्र से अमिट-अकंप,
नगाधिराज से अधिक अचल, महासिंधु से अधिक विस्तीर्ण;
प्रबुद्ध-प्रशांत महाशक्ति की वह कल्लोल अद्वैत
जो धारण करती लोक-युग सदा अक्लान्त भाव से ।

घेर लेता एक 'आनन्द' अक्षय भावावेश सहित,
विवश करता एक पुलक विशुद्ध, परम, अमृतमय,
रचते हुए अद्भुत संयोग प्रेम और एकत्व का
सर्व-सुन्दर, सर्वप्रियतम के प्रगाढ़ आलिङ्गन में ।

समय की मंद गति से जिसने छुटकारा पा लिया,
सनातन के हृदय में निश्शब्द, निर्विचार समाहित हुआ,
बैठ ऊपर सर्वज्ञ नीरव-निश्चलता में वह
प्रवर्तित करता है सद्-ब्रह्म के नाम-रूपों को ।

स्वीकार करते हुए भी एक नश्वर शरीर यहां,
वह स्वयं तो अविनाशी, सीमा-बन्धन नहीं जाने;
युग-परंपरा तो उसकी क्रीड़ा-भूमि का विस्तार,
प्राण अरु प्राण-लीला उसकी शानदार छाया-मात्र ।

उतार लावे दिव्य शक्तियां प्रत्याशित प्रकृति के लिए,
प्रतिष्ठित करे विशद शांति पर उसके व्यथित श्रम को,
परिणत कर देवे हर्ष में उसके पुरातन दुःख को,
मात्र इसी उद्देश्य से वह जीवित रहता, कर्म करता,

अचेतन अंधकार पर प्रकाश बरसाते हुए । व्यर्थ हैं
मन के क्षुद्र सङ्कल्प उसके लिए जिसने पाया है
अनन्त और शाश्वत को उच्च उपभोग के रूप में,
अपने प्रियतम, पथ-दर्शक, शरणदाता को सर्वमय ।



प्रकाश की ओर—

(६)

माया का जन्म

भगवान् हैं पूर्ण-ज्योति, पूर्ण-आनंद, पूर्ण-शक्ति—अपने आपमें, अपने सार एवं सत्य सत्ता में, सदा-सर्वदा और नित्य-निरंतर।

परंतु, कहीं, वैश्व सत्ता के किसी भाग में भगवान् ने भगवान् को भूलना पसंद किया। उस पूर्ण-ज्योति, उस पूर्ण-आनंद, उस पूर्ण-शक्ति के सम्मुख पर्दा पड़ने दिया गया।

मिश्रण संभव हो गया, द्वंद्व उत्पन्न हुए—अज्ञान ज्ञान में प्रविष्ट हो गया, दुःख ने आनंद को आ घेरा, निर्बलता बल में घुस गयी।

नवीन एवं असाधारण अभिव्यक्ति के लिये इस गति को होने दिया गया,—अनुभव की परिपूर्णता के लिये, अमित विरोध की ज्योतिर्मय संमेलन तथा एकताल में परिणति के लिये।

नित्य वस्तु ने अपनी नित्यता का निषेध कर डाला, दिव्य सत्ता अदिव्य हो गयी।

अचित् में से चेतना को उदित होना ही था, अंधकार में से प्रकाश को, दुःख में से आनंद को, जड़ता में से शक्ति को,—क्योंकि भगवान् सदा ही एकमात्र सद्बस्तु हैं, उन प्रतीतियों में भी जो उससे सर्वथा भिन्न हैं।

जो अदिव्य है उसे दिव्यता का यंत्र बनना ही था, अचेतन प्रकृति को परात्पर को मूर्तिमान् करना ही था।

क्योंकि जब एकमेव भगवान् अभिव्यक्ति के बहुत्व में अवतीर्ण हुआ, जब उसने अनंततः वैविध्ययुक्त एवं क्रमयुक्त सत्ता को अपनेमेंसे आविर्भूत किया, तब अदिव्यता भी संभव हो गयी अर्थात् उसकी मूल

तथा सर्वोच्च अवस्था से एक दूरतम रूप वा आभास भी संभव हो गया।

अनंत में सब प्रकार की संभावनाएं अभिव्यक्त होती हैं और इसके लिये अवरोहण की इस शृंखला का भी इसकी अन्तिम सीमा तक अनुसरण करना, इसकी संभावना के संपूर्ण क्षेत्र को पूरा पूरा प्रयोग में लाना, फिर इसकी निज चरितार्थता में इसका निषेध करना और इसे इसके आदिश्रोत के स्वभाव एवं सारतत्त्व की ओर लौटा लाना आवश्यक था।

सृष्टिक्रम का आरंभ है आत्मविषयीकरण अर्थात् आत्मा का अपने आपको अपना विषय बनाना।

भगवान् ने अपनेको अपनेसे दूर फेंका—“वाहर प्रसारित किया”, “स पर्यगात्”—इसलिये कि वह अपनेको अपने चिंतन का विषय बना सके, कि वह अपने साथ अनंत संबंधों की पद्धति को स्थापित कर सके।

अभिव्यक्ति—लीला—का अभिप्राय है आत्मविषयीकरण की समृद्ध प्रवृत्ति को कार्य-रूप देना।

इस आत्मविषयीकरण की प्रक्रिया में आत्मा के निषेध की गति की संभावना प्रत्यक्षतया अपरिहार्य हो गयी—आत्मनिषेध ने अपने आपको आत्मविषयीकरण की चरम सीमा, अन्तिम अवस्था के रूप में प्रदर्शित किया।

भगवान् ने आत्म-विलोप की अनुमति दी जिससे वह इसके द्वारा पूर्णतम आत्म-उपलब्धि तक पहुंच सके।

आत्मा में तो ज्योति ही ज्योति है।

परंतु यहां भूतल पर अंधकार को प्रवेश करने दिया गया—क्योंकि यह वह आधार था जिसमें

आध्यात्मिक
में एवं जड़
जीवंत-ज्वलंत

श्रीअरवि
शक्ति भारत
भारत की अ
उन्होंने आत्
कृत करने व
शक्ति लगा
मानवजाति
को निश्चित
तथा हिन्दू
प्राप्त की—
साहसी व्या
अंग्रेजी, फें
हैं, और इस
नया संदेश
वर्ष के ध्या

*रोमं र
जगत् किस
हो रहा है,
गाते, भारत
ओं के आदर्श
नेताओं का
यह लेख
की भावना
यहां र
और जिस

आध्यात्मिक ज्योति को साकार बनना था, उसे जड़ में एवं जड़ के द्वारा एवं जड़ के आकार-प्रकार में जीवंत-ज्वलंत बनना था।

जहां अतिशय आत्मनिषेध है वहीं भगवान् के परम अस्तित्व की साक्षात् पूर्णता को प्रादुर्भूत होना था।
—नार्लनीकान्त गुप्त

श्रीअरविन्द

रोमैं रोलान्*

श्रीअरविन्द का विश्वास है कि वे अपनी सारी शक्ति भारत के ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि में लगाकर भारत की अधिक अच्छी तरह सेवा कर रहे हैं, और उन्होंने आत्मा की जंगदार “चाबी” को पुनः अधिकृत करने के लिये अपने विशाल मन की एकाग्र शक्ति लगा दी है, उनका विश्वास है कि वह चाबी मानवजाति के सम्मुख ज्ञान तथा बल के नए क्षेत्रों को निश्चितरूपेण खोल देगी, उन्होंने आधुनिक विज्ञान तथा हिन्दू धर्मग्रन्थों के तत्त्वज्ञान दोनों की शिक्षा प्राप्त की—वे आज भारत में हिन्दू धर्मशास्त्रों के साहसी व्याख्याकार हैं—वे संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन भाषा में बोलते तथा लिखते हैं, और इस समय वे अपने देश की जनता को एक नया संदेश सुनाने में संलग्न हैं जिसे उन्होंने १८ वर्ष के ध्यान के फलस्वरूप प्राप्त किया है।†

वे भारत के आध्यात्मिक प्रयत्नों तथा पश्चिम के कर्मकलाप में सामंजस्य स्थापित करने के लिये यत्नशील हैं, और इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त वे आत्मा की सभी शक्तियों को कर्म पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये सधा रहे हैं। पश्चिम पूर्व के संबंध में अपनी इस चिरप्रचलित धारणा को रखते हुए भी कि पूर्व निष्क्रिय, स्थितिशील एवं तटस्थ है, कुछ ही काल में एक ऐसे भारत को देखकर चकित रह जायगा जो प्रगति तथा ऊर्ध्वमुखी उन्नति के उन्माद में पश्चिम से भी आगे बढ़ जायगा। यदि रामकृष्ण, विवेकानंद और घोष (श्रीअरविन्द) की भांति वह (पूर्व) अपनेको कुछ समय के लिये विचार की गहराइयों में भीतर लौटा ले जाता है तो यह केवल अगली लंबी छलांग के लिये नया वेग प्राप्त करने को ही होता है। श्रीअरविन्द आत्मा की तथा मान-

*रोमैं रोलान् (Romain Rolland) फ्रांस के एक जगद्विख्यात विचारक हुए हैं। मानवजाति और जगत् किस दिशा में जा रहे हैं अथवा इनका भावी विकास वर्तमान अवस्थाओं से किस प्रकार निर्दिष्ट हो रहा है, यह जानने की इनकी गंभीर जिज्ञासा तथा योग्यता थी। इनकी, जगत् के भावी विकास के नाते, भारत के लिये विशेष भावना थी। इन्होंने आधुनिक भारत का खूब ही अध्ययन किया, इसके नेताओं के आदर्शों तथा कार्यशैलियों को समझने का यत्न किया। फलस्वरूप कई ग्रन्थ लिखे, जिनसे भारत के नेताओं का जगत् को अच्छा परिचय प्राप्त हो गया।

यह लेख उनके “Prophets of the New India” में से उद्धरण है। श्रीअरविन्दसंबंधी उनकी भावना व धारणा का निचोड़ है। यह ध्यान रहे, यह ग्रन्थ १९२८ में प्रकाशित हुआ था।—सं० १ यहाँ संकेत ‘आर्य’ पत्रिका की ओर है जो श्रीअरविन्द ने सन् १९१४ में निकालनी शुरू की थी और जिसमें उनके गीता, वेद, दर्शनादि-संबंधी लेख प्रकाशित हुआ करते थे।—सं०

वीय प्रगति की असीम शक्तियों में अनुपम श्रद्धा से देदीप्यमान हैं। यूरोप की भौतिक तथा वैज्ञानिक सफलताओं को वे पूरी तरह स्वीकार करते हैं, किंतु उन्हें वे प्रारंभमात्र समझते हैं न कि अन्त; वे भारत को उन्हीं विधियों के प्रयोग से इस क्षेत्र को पारकर आगे निकल गया देखना चाहते हैं। क्योंकि उनका विश्वास है कि “मानवजाति उस नए ज्ञान, नए सामर्थ्यों, नई क्षमताओं से अपने क्षेत्र का विस्तार करने को उद्यत है, जो ज्ञान आदि मानव-जीवन में ऐसी महान् क्रान्ति पैदा करेंगे जैसी उन्नीसवीं सदी के भौतिक विज्ञानों ने की।”

इस लक्ष्य की सिद्धि तब होगी जब सर्वांगीण विज्ञान में अन्तर्ज्ञान का विधिवत् तथा विचारपूर्वक समावेश किया जायगा, इस रूप में कि यह मन का प्रकाशप्रदाता तथा प्रधान सेनापति है, जिसके लिये तार्किक बुद्धि एक ऐसे साधारण सैनिक का काम करती है जो विजय को अवश्यंभावी बना देता है। फिर दिव्य परम एकता तथा अभीप्साशाली मानव को जोड़नेवाली शृंखला में कोई कड़ी टूटी नहीं रहेगी! ईश्वर में स्वतंत्र हो रहने के लिये मिथ्या प्रकृति के त्यागने का प्रश्न भी समाप्त हो जायगा। सर्वांगीण विश्वप्रकृति को सहर्ष स्वीकार एवं वरण करने तथा उसे वश में लाने से पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त हो जायगा। त्याग वा निरोध का वहां किंचित् भी स्थान नहीं होगा। अनंतबाहुल्ययुक्त अपनी अशेष शक्तियों से तथा उन्मीलित नेत्रों से हम सारे के सारे जीवन का आलिंगन करेंगे मानो कि यह शांत एवं निर्लिप्त परम पुरुष की उपलब्ध एकता के हृदय से निःसृत विश्वव्यापी हर्ष हो। ईश्वर मनुष्य में तथा उसके द्वारा कार्य करता है, और मुक्त मनुष्य ईश्वर में तन-मन से, सर्वात्मना, “इस जगत् में कर्म की प्रणालिकाएं” बन जाते हैं।

अतएव धार्मिक, ज्ञानी तथा वीर भारत, जो आज पुनरुज्जीवित हो रहा है, पूर्ण से पूर्ण ज्ञान को तीव्र

से तीव्र कर्म के साथ घुलामिलाकर एक कर रहा है। महान् ऋषियों में से अन्तिम (श्रीअरविन्द) अपने प्रसारित करयुगल में सर्जनशील आवेग का धनुष धारे हुए हैं। यह एक अविच्छिन्न धारा है जो दूरतम गत दिनों से सुदूरवर्ती आगामी दिनों तक प्रवाहित हो रही है। इतिहास का संपूर्ण आध्यात्मिक जीवन एक है: वह एकमेव जो बढ़ता है....

“यह उपा उन उपाओं के लक्ष्य का अनुसरण करती है जो परे बढ़ती चली जा रही हैं, और जो आनेवाली उपाएं हैं उनकी शाश्वत शृंखला में यह प्रथम है,—जीवमात्र को आविर्भूत करती हुई, किसी को जो मृत पड़ा था उद्बुद्ध करती हुई उपा विस्तृत होती है... जो उपाएं पहले प्रकाशित हो चुकी हैं और जो आगे प्रकाशित होंगी उनके साथ जब यह उपा सामंजस्य स्थापित करती है तो इसका क्षेत्र क्या होता है? यह प्राचीन प्रभातों की कामना करती और उनकी ज्योति को परिपूर्ण करती है; अपने प्रकाश को आगे प्रसारित करती हुई यह उन इतर उपाओं से भी प्रगाढ़ संबंध स्थापित करती है जो भविष्य में आनेवाली हैं।”

अठारहवीं सदी की सामान्य जागृति (Enlightenment) से लेकर, निरंतर तीन सदियों में मानव आत्मा ने जिस अत्यद्भुत वक्र पथ पर गति की है उसके अभिप्राय को हम कुछ कुछ समझने लग रहे हैं—खण्डनात्मक तथा क्रान्तिकारी समीक्षक बुद्धिवाद के शस्त्र के द्वारा प्राचीन सर्वोत्तम समन्वय की अति संकीर्ण सीमाओं से आत्मा की मुक्ति,—उन्नीसवीं सदी में, अपनी अति महत् आशाओं तथा मिथ्या आश्वासनों से युक्त परीक्षणात्मक तथा प्रत्यक्षवादी विज्ञान की ऊंची उड़ान—उन्नीसवीं सदी के अन्त में इसका आंशिक दिवालिघापन—बीसवीं सदी के प्रारंभ की भूचाल-सरीखी उलटापलटियां जिन्होंने आत्मा के संपूर्ण प्रासाद को जड़ तक हिला डाला—उन वैज्ञानिक नियमों की अस्थिरता जो स्वयं मानव-

ता की ही
सापेक्षतावा
आक्रमण, प्र
आक्रमणवृत्ति
करता, इस
वात को अ
प्रकार खोस
आधारशिल
कर सकें.
और व
के लिये नव
हो रहा है,

योग

यो

प्रवेश

द

हो भ

प्रायः

(पवि

अहम्

य

डटा

म

महत्

म

प्रका

चिह्न

भी व

दिन

सम

पदा

स्वत

कर रहा ता की ही तरह विकसित एवं परिवर्तित होते हैं, सापेक्षतावाद की क्रीड़ा में प्रवेश, अवचेतन का आक्रमण, प्राचीन बुद्धिवाद को भयप्रदर्शन तथा उसका आक्रमणवृत्ति को छोड़कर आत्मरक्षा-वृत्ति को धारण करना, इस सबने प्राचीन धर्मविश्वासों के लिये इस बात को असंभव बना दिया कि वे तर्कबुद्धि से इस प्रकार खोखली की हुई भूमि पर अपनी पुरानी आधारशिलाओं को ढूँढ़कर पुनर्निर्माण का कार्य प्रारंभ कर सकें....

और वह देखो! समूची मानवजाति के हित के लिये नवीन समन्वय के युग का आश्वासन उदित हो रहा है, उस युग का जिसमें अभिनव तथा विशाल-

तर बुद्धिवाद, अपनी सीमाओं को जानता हुआ भी, अधिक विश्वस्त आधार पर प्रतिष्ठित अन्तर्ज्ञान की नवीन विद्या से सुसंबद्ध होगा। पूर्व तथा पश्चिम के सम्मिलित पुरुषार्थ से अधिक स्वतंत्र एवं अधिक व्यापक विचार की नई व्यवस्था का जन्म होगा। और, जैसा कि प्रचुरता के समय में सदा ही हुआ करता है, इस आन्तरिक व्यवस्था का तात्कालिक परिणाम होगा बल का एवं साहसपूर्ण विश्वास का प्रवाह, आत्मा को अनुप्राणित तथा परिपुष्ट करने-वाला कर्म का तेज, वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का नवजन्म....

योग का वास्तविक उद्देश्य

योग का वास्तविक उद्देश्य लोकोपकार नहीं बल्कि भगवान् को पाना, भागवत चेतना में प्रवेश करना और भगवान् में अपनी सच्ची सत्ता को (जो कि 'अहं' नहीं है) प्राप्त करना है।

दमन द्वारा "रिपुओं" पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती (यदि दमन कुछ हद तक सफल हो भी जाय तो भी वह उन्हें केवल नीचे दबाये रखता है, उन्हें नष्ट नहीं कर डालता); प्रायः करके दमन केवल उनके बल को बढ़ाता ही है। यह कार्य तो भागवत चेतना द्वारा शुद्धि (पवित्रीकरण) होने के बल से ही सिद्ध हो सकता है—सो इस प्रकार कि भागवत चेतना अहम्भावपूर्ण प्रकृति के अंदर प्रवेश करे और उसे परिवर्तित करे।

यदि साधक अन्तर की गहराई से आत्मोत्सर्ग करे और परम पथ पर पूर्णतया दृढ़तापूर्वक डटा रहे तो ही वह सफल हो सकता है।

मार्च, १९३०

—श्रीअरविन्द

महत्वाकांक्षा

महत्वाकांक्षा का एक अत्यन्त सामान्य रूप है मानव-जाति की सेवा करने का विचार। इस प्रकार की सेवा या कार्य के प्रति किसी भी प्रकार की आसक्ति होना, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का चिह्न है। यदि तुम भगवान् के आदेश का अनुसरण करना चाहते हो, तो तुम्हें जो कोई भी काम मिले—चाहे वह बहुत भारी काम ही क्यों न हो—उसको ग्रहण करने के लिये तथा दूसरे ही दिन उस काम को उसी शांति के साथ, जिसके साथ तुमने उसे ग्रहण किया था—और जरा भी यह न समझते हुए कि इसमें तुमपर कोई उत्तरदायित्व है—छोड़ देने के लिये तैयार रहना चाहिये। किसी पदार्थ या किसी विशेष प्रकार के जीवन में तुम्हें कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तुम्हें सर्वथा स्वतन्त्र हो जाना चाहिये।

—श्री माताजी

नैतिक नियम और दिव्य विधान

तुम नैतिक नियमों का भंग तभी कर सकते हो जब तुम दिव्य विधान का पालन करो।

—श्री माताजी

अन्तःस्थित नैतिक आदेश का क्षुद्र प्रकाश मनुष्य को पशु से विशेषता को प्रदर्शित करता है; और यह सर्वथा उचित ही है कि मानव समाज को पशु-समाज से उच्चतर स्तर पर रहने के लिये इस प्रकाश से उपदिष्ट आचारसंबन्धी नियमों का आदर करना चाहिये। वे नियम हैं नैतिक नियम जिनपर मानव समाज के नेताओं, मनु, मूसा और कनभ्यूशस सभी ने इसलिये बल दिया था कि मनुष्य इन्हें अपने सामाजिक आचार-व्यवहार के लिये अपनावे। उनका उद्देश्य था समाज को अव्यवस्था से बचाना, मानव सभ्यता के समुचित स्तर की सुरक्षा करना और विनाश तथा ह्रास को रोकना।

इस प्रकाश का स्वरूप क्या है? इसे नैतिक शक्ति (conscience) कहते हैं, किंतु यह विचार अस्पष्ट है क्योंकि यह हमारे व्यक्तित्व के स्वरूप में अंगभूत नहीं। इस विषय में भारतीय मनोविज्ञान का विचार स्पष्ट एवं सुनिश्चित है: यह प्रकाश बुद्धि

का, विवेक का प्रकाश है, अच्छे और बुरे में विवेक करने की हमारी शक्ति या सदसद्विवेकबुद्धि है। विकास की वर्तमान सामान्य अवस्था में हमारे व्यक्तित्व का यह सबसे ऊंचा केन्द्र है और यदि विकासक्रम में नई शक्तियों की अभिव्यक्ति का कुछ अभिप्राय है तो वह यही हो सकता है कि क्षुद्रतर शक्ति को उच्चतर शक्ति के नेतृत्व का अवश्य अनुसरण करना चाहिये।

★

★

निःसंदेह यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या हम अपनेको हानि पहुंचाये बिना नैतिक नियमों का उल्लंघन कर सकते हैं? माताजी साधक से तथा वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति से कहती हैं, “नहीं, तुम ऐसा तब तक नहीं कर सकते जब तक तुम इससे भी अधिक ऊंचे विधान का पालन नहीं करते।”*

—एन. एन. कौल

*उस अधिक ऊंचे विधान का यहां संकेतमात्र ही दिया है। वह है, वास्तव में, दिव्य विधान जिसे व्यक्ति मन की नैतिक प्रेरणा द्वारा नहीं बल्कि उससे परे की आत्मा की स्फुरणा द्वारा प्राप्त करता है। आज मानव नैतिक नियमों को तोड़ने में आनंद मान रहा है। परंतु, वास्तव में, पहले उसे अपनी अन्तरात्मा के दिव्य विधान की जिज्ञासा करनी चाहिये, उसे जानने की शक्ति विकसित करनी चाहिये, उसे जानकर उसका पालन करना चाहिये, तब वह मजे में नैतिक नियमों को तोड़ दे।—सं०



दर्शन

डा० श्रीनिवास आयंगर *

माताजी दर्शक अभी चले ही आ रहे थे, और वे दिन दिन बढ़ते गये यहाँ तक कि दर्शन के दिन उनकी वाढ़ सी उमड़ पड़ी,—पुरुष, स्त्रियाँ और बालक अपना सामान और बिस्तर-बोरिया, अपना 'हिन्दू' पत्र और छाते लिये, १९४३ की १५ अगस्त के प्रातःकाल आश्रम-द्वार के निकट जमा हो गये,—और द्वारपाल साधकों ने शांत आश्वासनपूर्वक, सहज स्मित के साथ, भीड़ का स्वागत किया। भारत के चारों कोनों से—गुप्त प्रदेशों व पगडण्डियों से, सुदूर नगरों व दुर्गम ग्रामों से—यात्रिजन पांडिचेरी में श्रीअरविन्द आश्रम के आसपास एकत्र हुए थे। वे आये थे युद्धकालिक यात्रा की सैकड़ों असुविधाओं को तथा उन छोटे बड़े सैकड़ों कष्टों को सहते हुए जो हमारे अपूर्ण समाज के अंग हैं। राजा और रंक, राजकोषाध्यक्ष और राजनीतिज्ञ, जमींदार और व्यापारी, कवि और दार्शनिक, छात्र और शिक्षक, पुण्यात्मा और पापी, प्रत्यक्ष व्यंग्यकारी तथा अधूरे विश्वासी—सभी प्रकार के लोग आये थे—श्रीअरविन्द के दर्शन की इच्छा से वे सभी उस परम पावन धाम में एकत्रित हुए थे। क्या उन्हें पता था—क्या उन सभी को पता था—कि दर्शन का क्या अभिप्राय है? क्या अनुभव उनके लिये सुरक्षित है, किस प्रकार वह उनके जीवन में विकसित होने तथा उनके भविष्य का निर्माण करनेवाला है,—ये सब बातें सोचने की शायद उन्होंने पर्वाह ही नहीं की थी; और, यदि की थी तो पलभर में ही इससे उनके दिमाग

चकरा गये और उन्होंने वह संघर्ष तुरंत त्याग दिया था।

संभवतः, कुछ एक दर्शकों के पांडिचेरी आने का कारण था केवल एक तुच्छ कौतूहल; संभवतः, कुछ लोगों में अपने मित्रों के संसर्ग से उत्साह का संचार हुआ और अतएव वे अपनी अर्द्ध-पक्व अभीप्साओं को अनुभव की अग्निपरीक्षा में से गुजारने के लिये दर्शन के अवसर पर आश्रम चले आये, ताकि उत्साह की तरलताएं दृढ़ होकर श्रद्धा के विशुद्ध स्वर्ण में परिणत हो जायं अथवा—परीक्षा में पूरी न उतरने पर—भ्रमनिवारण के अगणित विदुओं एवं अणुओं में छिन्नभिन्न हो जायं; संभवतः, कइयों को अकस्मात् 'योग और उसके उद्देश्य' या 'वाजी प्रभु' या 'हिराक्लिटस' या 'माता' या 'भावी काव्य' की दो एक रचनाएं पढ़न का संयोग प्राप्त हुआ, उनमें तीव्र उत्साह का संचार हुआ, इस प्रकार पैदा हुई चिनगारी प्रतिदिन, प्रतिघड़ी सुलग सुलगकर आराधना की—अहैतुक अंध आराधना की—मंगलाग्नि में प्रज्वलित हो उठी और वे दीन-हीन जन केवल आकर्षण-शक्ति के वश आश्रम की ओर खिंचे चले आये, उन्हें वे क्षण, वे पल दूभर हो रहे थे जिन्होंने "अनाशासित विमोहक आश्चर्य" ... "असीम सत्" ... "शक्तिशाली देव" ... "अनंतता के गायक" से उन्हें जुदा कर रखा था; अपिच, संभवतः कुछ लोगों ने राष्ट्रसेवक श्रीअरविन्द, कवि श्रीअरविन्द तथा दार्शनिक श्रीअरविन्द के चरित को शनैः शनैः

*डा० श्रीनिवास आयंगर आंध्र विश्वविद्यालय में आंगल साहित्य के प्रधान उपाध्याय हैं। उनका यह लेख एक दर्शन के अवसर का चित्रात्मक तथा कवितामय वर्णन है। उस समय के व्यवहार तथा भावनाओं का तटस्थ चित्रण है। वास्तव में उस स्थिति को हमारे सामने सजीव खड़ा कर देता है।

—सं०

समझना तथा सराहना सीखा था परंतु वे इससे आगे नहीं बढ़ पाये थे, सच पूछिये तो उन्होंने श्रीअरविन्द के योग के संबंध में भारी संदेह को पाला पोसा था, यहां तक कि दो एक बार इस सबको रहस्यवाद एवं मरुमरीचिका का नाम भी दे डाला था और तदनुसार वे अपने मन को इस प्रकार मनाने लग पड़े थे कि, आखिरकार, क्या हमारे अपने विचार ही ठीक विचार नहीं हैं, क्या श्रीअरविन्द, वास्तव में, संत एवं महायोगी न होकर कवि तथा राष्ट्र-धर्म के प्रचारकमात्र नहीं हैं; संभवतः, सभी श्रेणियों के स्त्री-पुरुष वहां उपस्थित थे, और सभी श्रेणियों के बालक भी, कुछ अपने हृदयों में स्वर्ग धारण किये हुए, दूसरे केवल चपल एवं रसिक, बहुतेरे आश्रम के वातावरण से सहसा मोहित एवं परिपूत, पर कई इसकी अदृश्य तरंगों को भी हठपूर्वक रोकने-वाले तथा अपनी प्राणशक्ति की निराली हलचलों व ऐंठनों को न छोड़नेवाले।

प्रासंगिक आलोचनाएं, भूले-भटके कुशलप्रश्न, फुसफुसी गुप्त बातें व्यक्ति के कानों में पड़ती थीं। आश्रम-भवन दबी उत्तेजना से भरा था; व्यक्ति को अनेक भारतीय भाषाओं की ध्वनियां सुन पड़ती थीं, वह निठल्ले आदमी की तरह इधर उधर घूमता फिरता, बार बार अपने चारों तरफ ताकता—उस दीखने में परदेसी तथा अनोखी परिस्थिति में भी वह घर का सा आनंद अनुभव करता। कौनसी बड़ी बात थी यदि किसी को यह पता नहीं था कि मेरा पड़ोसी कौन है? उसे यह तो मालूम ही था कि मेरे पड़ोसी का ध्येय क्या है—या क्या ध्येय प्रतीत होता है—कि वह भी मेरी तरह परिपूर्णता के तीर्थ-स्थान का यात्री है। व्यक्ति अवसर मिलने पर—या लोकाचारात्मक कुशलप्रश्न समाप्त होने पर—बेशक अपने पड़ोसी से बातचीत कर सकता था, किंतु, शांत भाव से बैठे रहना या इधर उधर घूमना फिरना ही, सर्वतोद्दृष्ट्या, अधिक सुरक्षित था, शांति

के आनंदप्रद प्रीतिभोज में भाग लेना अधिक बुद्धि-मत्तापूर्ण था, पवित्र तथा उच्च बनानेवाले मौन-भाव के ज्ञान तथा बल की शरण लेना ही अधिक शोभाजनक था।

बहुत से साधक और बहुत से दर्शक भी स्पष्ट-तया विचारमग्न दीख पड़ते थे। वे अकेले या छोटी छोटी टोलियों में फर्श पर या सीढ़ी के सोपानों पर बैठे थे—और तब भी वे विचार में लवलीन लगते थे। और कुछ दूसरे लोग भी थे—दूसरी टोलियां व मंडलियां—और मनुष्य तथा स्त्रियां तीव्र झटकों, व्यंजक हावभावों तथा अधीर तारस्वर से चपलतापूर्वक बातें कर रही थीं। परंतु आम लोग शायद इनमेंसे किसी भी श्रेणी के नहीं थे। जो लोग पहली बार ही आश्रम आये थे उनमेंसे बहुतेरे चकराये हुए से लगते थे; निःसंदेह वे एक आश्रम में आये हुए थे, वे एक अनुभव की दहलीज पर खड़े थे, वे सहसा एक विचित्र नए संसार में धकेल दिये गये थे—और वस वे विस्मित थे, वे अपने अज्ञान के भाव में विस्मित थे, वे अपने विनय तथा भय के भाव में विस्मित थे कि आखिर यह सब बाह्याडंबर किधर ले जा रहा है, क्या अमूल्य दिव्यदर्शन कोने में छिपा उनकी प्रतीक्षा कर रहा है, और ठीक किस प्रकार वे अपने अभागे जीवनो के समस्त नीरस दिनों में उसे सुवासित एवं सुरक्षित करेंगे।

आखिर पंक्ति बनने लगी—तीसरे पहर के कोई दो बजे। पांडिचेरी में यह एक उजला दिन था, और पांडिचेरी के लिये यह एक महान् दिन था। पंक्ति बन रही थी, और यात्रियों की बेहद लंबी पंक्ति यद्यपि चलती हुई मालूम नहीं देती थी पर वास्तव में वह आगे बढ़ रही थी; कुण्डलाकार पंक्ति ऊपर पुस्तकालय और वाचनालय की ओर मुड़ी और फिर तुरंत नीचे झुकी, बाग में को निकली, कुछ दूर सीधी राह चली, तुरंत तेजी से ध्यान-भवन की ओर घूम गयी; वह, एक असंभव रूप से लंबे

कनखजुरे व
पैड़ियों को
दिशा में घू
स्थान तक
अपनी ऊंच
कड़ियों, अ
गुनगुनाती
गुनगुनाती,
रोम रोम
की ठेठ को
धीरता से
रहे थे, उन
उनकी आं
बचा रही
या शोभन
दृढ़ता से प
बढ़ते, औ
विश्वास
चाहता ह
विश्वास
ऐसी प्रार्थ
हृदय में
वह माला
अन्तिम
आंखों का
उन दो
प्रताप ए
थीं। मा
पहुंचा थ
सत्य का
के तले
आगे ए
होकर
असंभव

कनखजूरे की तरह, बढ़ रही थी, खंभों को घेरती, पैड़ियों को नापती, कभी एक दिशा में, कभी दूसरी दिशा में घूमती, अन्त में ठीक उसी भवन में, उसी स्थान तक....पहुंची। पंक्ति लंबी थी, और वह अपनी ऊंची नीची चोटियों, अपनी जुड़ती टूटती कड़ियों, अपने उतराव चढ़ाव के साथ, झूमती और गुनगुनाती और बढ़ती, वह रुकती और बढ़ती और गुनगुनाती, और निस्तब्ध प्रतीक्षा मानव देह के रोम रोम एवं अणु अणु में तथा गुप्त मानव हृदय की ठेठ कोठरियों तक में पूरित हो रही थी। कैसी धीरता से वे अपनी अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे थे, उनमेंसे बहुत से कैसे मूर्त्तिसम स्तब्ध खड़े थे, उनकी आंखें सूर्य की दुपहरी की चौंध से अपनेको बचा रही थीं, उनकी उंगलियां तुलसी की माला या शोभन श्वेत पुष्प या सुन्दर लाल गुलाब को दृढ़ता से पकड़े हुए थीं—और वे प्रतीक्षा करते तथा बढ़ते, और वे बढ़ते तथा प्रार्थना करते। “मैं विश्वास नहीं कर सकता....मैं विश्वास करना चाहता हूँ....मुझे विश्वास करना ही होगा....मैं विश्वास करके रहूंगा....मुझे विश्वास करने दो” ऐसी प्रार्थना अज्ञेयवादी भी करता और उसके हृदय में आशा तथा निराशा का द्वंद्व चलता और वह माला को और भी मजबूती से पकड़ लेता।

अन्तिम मोड़ भी पार हो गया, और व्यक्ति की आंखों का दृष्टिक्षेत्र विस्तृत हुआ, और उसकी दृष्टि उन दो भव्य मूर्त्तियों पर जा टिकी जो अविचल प्रताप एवं उज्ज्वल तेज सहित एकत्र विराजमान थीं। माताजी और श्रीअरविन्द ! महान् क्षण आ पहुंचा था, वह उपस्थिति क्या थी !—ज्योति और सत्य का सिन्धु ही थी....और निरा मन उस आघात के तले लड़खड़ा गया, निरा मानव तन जड़वत् आगे एक ओर को झुक गया, पर नेत्र निरुपाय होकर मंत्रमुग्ध से गड़े हुए थे। विचार तब असंभव था....मन ने एक घड़ी के लिये अपनी

प्रभुता त्याग दी थी....और व्यक्ति (क्या हम यह कहने का साहस कर सकते हैं ?) लगभग जीवंत आत्मा ही बन गया था। वह सर्वोच्च क्षण ! व्यक्ति माताजी के सम्मुख था, व्यक्ति गुरुदेव के सम्मुख था....उस स्मित को सहना असंभव था, उस अन्तर्वेधी दृष्टि की सूक्ष्म परीक्षा के सामने टिके रहना असंभव था। शायद दो एक क्षण, इससे अधिक नहीं....पर यहां अनित्य क्षणों की कोई चर्चा ही कैसे कर सकता है ! सच तो यह है कि उस समय व्यक्ति इस जगमगाते सत्य की झांकी पा रहा था—“काल का अस्तित्व ही नहीं रहेगा” ! नित्यता काल के कण में आवेष्टित थी व्यक्ति देश-काल की सीमाओं को प्रायः पार कर चुका था....वह एक ऐसी गौरवगरिमा के आकस्मिक उद्भव को अनुभव कर रहा था जो साथ ही अगाध विनय पर प्रतिष्ठित थी। और—पर इससे पूर्व ही वह कमरे से बाहर निकल चुका था !

जीवन की नाड़ियों ने अब फिर चलना शुरू कर दिया था; मन के तार, मन की मशीनरी अपना कार्य पुनः प्रारंभ कर रही थी, पैरों को यह सुध थी कि हमें किधर चलना है, हृदय अभी उस मुहूर्त्त के आलोड़न से आतुर था,—व्यक्ति अपने कमरे में लौटा, उन सहस्रों कल्पनाओं, सहस्रों अभीप्साओं को जोड़ने तथा गूँथने के लिये जो कालातीत काल के उस एक महान् क्षण में आश्चर्यजनक प्रचुरता से उमड़ पड़ी थीं। वह अधिक शांत, अधिक स्तिमित हो गया, उसने अनुपम, अवर्णनीय कृतार्थता के अनुभव को हृदयांकित किया। वह असाधारण रूप से प्रशांत था, पर वह तेजस्वी रूप में, लगभग दिव्य रूप में प्रसन्न भी था !

जिस उपस्थिति ने मेरी झंझान्दोलित आत्मा को इस प्रकार आप्लावित कर दिया तथा इसे कृपा के दान से पवित्र किया वह छपे चित्रों से नहीं के बराबर मिलती जुलती थी और हमारी चिन्तित

मानसिक कल्पनाओं से तो और भी कम। तो भी— इसकी मैं कैसे व्याख्या कर सकता हूँ?—वह सचमुच परिचित मुखाकृति थी। गुरुदेव को मैंने पहले कहाँ देखा था? उन्हें मैं पहले कितनी ही बार निहार चुका था—पर कहाँ? मन ने पार्थिव जीवन के पैंतीस वर्षों की चकरानेवाली गलियों की दौड़ लगायी ... कहाँ, रे कहाँ मैंने पहले उनका चेहरा देखा था? क्या वह जियस (Zeus) का चेहरा था जिसने मुझे कभी आनंदमुग्ध कर लिया था जब कि गाथाशास्त्र की एक पुस्तक में उसे देखने का मुझे मौका मिला था?... वरंच, क्या वह एसचिलस (Aeschylus) का चेहरा था?—संभवतः, वसिष्ठ भी ऐसे ही दिखायी देते थे जब कि वे दशरथ के पुत्र को आशीर्वाद दे रहे थे, और शायद वाल्मीकि भी तब इसी रूप में विराजमान थे जब कि उनके ज्ञानपूर्ण तेजोमय नेत्रों के सामने सारी की सारी रामायण, छोटी से छोटी विशेष घटनाओं तक, चित्रित हो गयी थी! और

माताजी का तथा गुरुदेव का दर्शन—क्या वे सचमुच ही, विश्वव्यापी महाशक्ति तथा सर्वोच्च ईश्वर थे?—दर्शन स्थिर रहा, अनुभव दृढ़ बना रहा, स्मित की स्मृति अब भी साधारण संसार के अनगिनत दुःखों को स्मित-सुख में परिणत कर देती थी। और जो अचिंत्यतया मुन्दर ब्रह्मतेज श्रीअरविन्द के मुखमण्डल पर देदीप्यमान था उसकी स्मृति अब भी व्यक्ति को आशा बंधाती थी और इस सब गहन संसार के भारी तथा दुःखदायी बोझ को सहने का सामर्थ्य देती थी—यही नहीं, वह व्यक्ति को ऐसा बल भी देती थी कि वह इस सबको बदल डालने की तथा इस प्रारंभिक आशा को साहसपूर्वक संबंधित करने की अभीप्सा करे कि निर्बल से निर्बल तथा मलिन से मलिन मिट्टी भी विज्ञानमय जीव की अतिमानव स्थिति में तथा सच्चिदानंद की त्रयात्मक महिमा में विकसित हो सकती है, चाहे यात्रा कितनी भी लंबी तथा मार्ग कितना भी विकट क्यों न हो!

श्रद्धा

श्रद्धा, वास्तव में, एक प्रभाव है, परम आत्मा का, और श्रद्धा का प्रकाश है एक संदेश, हमारी अतिमानसिक सत्ता का—प्रभाव और संदेश जो कि हमारी निम्न प्रकृति को उसके तुच्छ वर्तमान से उठाकर महान् आत्म-संभूति तथा स्व-अतिक्रमण के लिये पुकारते हैं। और इस प्रभाव को प्राप्त करनेवाली तथा इस पुकार का मान करनेवाली विशेष रूप से वह अन्तर की आत्मा है जो अपने भविष्य और उद्देश्य के तथ्य को अधिक अच्छी तरह जानती है, न कि बुद्धि या हृदय या प्राण-मन।

—श्रीअरविन्द

सच-
ईश्वर
रहा,

अन-
थी।
रविन्द
ते अव
गहन
ने का
ऐसा
ने की
वंधित
मलिन
मानव
महिमा
नी भी
!

री
से
त
ने
।
न्द

तेरी कृपा

भगवन् ! अरबों-खरबों वर्ष पूर्व मैं पत्थर था—असंज्ञ, अप्राण, निरिन्द्रिय और अचेतन। उस समय भी तेरी कृपा-सावित्री मुझपर बरसती थी। वह सूर्य की रश्मि बनकर मेरी काया को अपने प्रखर तेज से तपाती, उत्तरी ध्रुव का हिम-शिशिर पवन बनकर मेरी देह को सुख करती, महासागर की प्रचण्ड लहरें बनकर मुझे घिस डालती, मेघों की अविच्छिन्न धारा बनकर मेरे शरीर को भेद डालती। इस प्रकार युग पर युग बीत गये और अन्त में अचेतन में प्रसुप्त पड़ी हुई चेतना का प्रथम संचालन हुआ। असंज्ञता में से अन्तःसंज्ञता प्रकट हुई।

प्रभो ! लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व मैं खनिज था, किसी महागिरि की गहरी गुफा में पड़ी हुई मणि था। तुझसे अवतरित था परंतु था प्रविलीन; विज्ञान से गठित परंतु चेतना की अन्तःसंज्ञता में निमग्न। वहां पर भी तेरी ही कृपा कार्य कर रही थी। वह पाषाण-मिट्टी के बोझ से दलित तथा तिमिराच्छादित मेरी देह को घड़ती और अन्तःसंज्ञ चेतना को अधिकाधिक संसंज्ञ बनाने का प्रयत्न करती।

प्राणेश्वर ! सहस्रों-लाखों वर्ष पूर्व मैं सेन्द्रिय, सजीव सत्त्व बना। तेरी कृपा ने मेरे भीतर प्राण-रूप में प्रवेश किया और मेरे अंदर के विलीन प्राण को प्रकट किया। मैं वनस्पति बना। अल्पसंज्ञ हुआ। मेरे पांव पृथ्वी में गड़े हुए थे। उन पांवों द्वारा मैं अन्नरस खींचता और अपने सिर द्वारा तेरी ऊर्ध्वता की ओर जाने का प्रयत्न करता था।

जीवनधन ! सहस्रों वर्ष पूर्व मैं प्राणियोनिषों में भटकता फिरता था। वहां पर भी तेरी कृपा क्रियाशील थी। अज्ञाततया वह मुझे तेरी ओर खींचती थी। इन्द्रियों, मन और बुद्धि को मुझमें प्रकट कर रही थी। मेरी चेतना तो अभी जीवन-संघर्ष में उलझी हुई थी। उस समय कहां पता था कि मैं कभी मानव वनूंगा और सचेतनतया तेरे लिये अभीप्सा करूंगा। मैं तुझसे प्रचालित ही चलता था परंतु अज्ञानपूर्वक।

फिर मैं मानव बना तेरी कृपा ही के बल से। मैं सचेतनतया चिंतन करने लगा। संवेदनाओं और भावनाओं का अनुभव करने लगा। तूने तर्कबुद्धि और नैतिक मानस को प्रकट किया; सौन्दर्यमय और रसमय सत्ता का विकास किया।

मेरे सत्त्व के स्वामी ! अब भी तेरी ही कृपा-सावित्री मुझे चला रही है, विज्ञानमय चेतना के स्वप्नों की ओर अभिमुख कर रही है, मानव-सत्ता के रूपांतर को अंदर ही अंदर प्रेरित कर रही है तथा अभीप्सा के अतल को सदैव जाग्रत् रख रही है। अब तो यही विज्ञान, यही अतिमानस-भूमिका, यही मनुजोत्तर दिव्य जाति मेरा हमेशा का लक्ष्य बनी रहेगी। उसे यहां पर प्रकट करने के लिये मैं चेतनतया और आनंदपूर्वक तेरे हाथ में एक साधन बना रहूंगा। मेरे हृदय में बैठकर मेरी समस्त साधना भी तू ही कर रहा है न !

—रजनीकान्त मोदी

श्रीअरविन्द के दर्शन

प्रथम दृष्टिपात में ही मैं यह देख पाया कि श्री-अरविन्द आत्मा की खोज में संलग्न रहे हैं और उसे उन्होंने प्राप्त कर लिया है, और इस आत्मोपलब्धि के लंबे क्रम में अन्तर्ज्ञान की मौन शक्ति को अपने भीतर संचित कर लिया है। उनका मुखमण्डल आन्तर ज्योति से जाज्वल्यमान था।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मैं पांडिचेरी से भावों से भरे हृदय को लेकर लौटा। वे भाव इतने गंभीर हैं कि शब्द उनका वर्णन नहीं कर सकते। जो कुछ मैंने वहां देखा तथा अनुभव किया है उससे मुझे विश्वास हो गया है कि श्रीअरविन्द ने जीवन का एक ऐसा क्रियात्मक दर्शन विकसित किया है जो मनुष्य की आध्यात्मिक उपलब्धि के इतिहास में अद्वितीय है, और जो अपने उद्देश्य को अर्थात् मनुष्य के आन्तरिक नवजन्म को अवश्य साधित करेगा।

जैसे भूत में चीन को एक महान् भारतीय ने आध्यात्मिक तौर पर जीता था वैसे ही भविष्य में उसे एक अन्य महान् भारतीय, श्रीअरविन्द, भारत के महान् योगी, जीतेंगे।

—तान-युन-शान

मेरी आस्था के कई ध्वस्त अंशों का उद्धार हो गया। मार्क्सवाद की ओर कुछ अभिरुचि होते हुए भी मेरी आर्यदर्शन के प्रति आस्था थी। पांडिचेरी में उसके महत्त्व का मुझे और भी अधिक अभिज्ञान हुआ। श्रीअरविन्द स्वयं देवमूर्ति हैं।

★

★

दूत दिव्य जीवन के, दिव्य तुम्हारा दर्शन,
अतिमानस का स्पर्श प्राण मन करता चेतन !
मानव उर प्रच्छन्न तुम्हारा नव पद्मासन
तन मन प्राण हृदय ये तुमको, देव, समर्पण !

—सुमित्रानंदन पंत

श्रीअरविन्द-दर्शन के अवसर पर दर्शनार्थी जन सर्वश्रीमय और अध्यात्मवैभवमय 'पुरुष' के दर्शन प्राप्त करते हैं, और तब वे अद्वितीय 'पुरुष' का अवश्य ही कुछ साक्षात्कार करते हैं, उसकी शक्ति की प्रखर प्रभा को अनुभव करते हैं, तथा उसके व्यक्तित्व की वास्तविक तरंगों का संस्पर्श तक प्राप्त करते हैं। निश्चयपूर्वक उनकी साक्षी अत्यंत अमूल्य होती है।

—के. आर. श्रीनिवास आयंगर

ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में दुर्लभ होते हैं, परंतु जब वे आते हैं तो वे अपनी अतिशय श्री-शोभा-सहित आते हैं। वे मनुष्य के आन्तर जगत् में उन उषाओं को लाते हैं जब भगवान् अभीप्सु तीर्थयात्री पर अपनी कृपा वितरित करते हैं इसलिये कि वह अपने अन्तर्यामी प्रभु के दर्शन करे, कि उसका परम आदर्श उसके लिये वास्तविक हो जाय, और इसलिये कि अनंत देव एक ऐसी दिव्य उपस्थिति का रूप धारण कर ले जिसका वह न केवल अनुभव ही करे अपितु सान्त जगत् के रंग-रूप में साक्षात्कार भी करे।

—शिशिरकुमार मित्र

संकलन

[हाल में दो विशिष्ट व्यक्तियों के श्रीअरविन्द-संबंधी लेख अंग्रेजी के दो पत्रों में प्रकाशित हुए थे। उनके कुछ अंश हम यहां दे रहे हैं। पहले लेख के लेखक हैं श्री विजयतुंग, लंका के एक अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त सज्जन। दूसरे के लेखक हैं एक चीनी महोदय, जो भारत से विशेष प्रेम रखते हैं।

पत्र New India (देहली) और India (बम्बई) हैं। हम उनके कृतज्ञ हैं-सं.]

१

इस वर्ष श्रीअरविन्द के पहले दर्शन २१ फरवरी को हुए थे और मैं भी लगभग १५०० भाग्यवान् दर्शकों में से एक था। एक बड़ी संख्या बंगाल (श्रीअरविन्द की जन्मभूमि), बम्बई, करेला और गोआ से आयी थी; दो दर्शक न्यूयार्क के थे, उनमें से एक "वोग" (Vogue) नामक पत्रिका के संपादक हैं। हां, सब लोग इसलिये तो नहीं आये थे कि वे इस युग के सबसे महान् योगी की शिक्षा को समझते थे। कई तो केवल कुतूहलवश आये थे और बहुत से श्रीअरविन्द के आशीर्वाद से सांसारिक लाभ उठाने की इच्छा रखते थे, केवल थोड़े ही ऐसे थे जो इस भावना से आये थे कि श्रीअरविन्द एक संत-महात्मा से बढ़कर एक परम योगी हैं जो अपने शिष्यों को सामान्य जीवन के त्याग का उपदेश नहीं देते बल्कि उसके रूपांतर का आदेश देते हैं।

श्रीअरविन्द का आश्रम सामान्य परंपरा के वन-आश्रमों से, जहां कठोर तपस्या की शैली का अनुसरण किया जाता था, बहुत भिन्न है। यह उस योगशैली के अनुरूप है जिसे श्रीअरविन्द ने विकसित किया है और हमें, इस बीसवीं सदीवालों को, प्रदान किया है। इसका अर्थ यह नहीं कि यहां कुछ शिथिलता या अनावश्यक सुख का वातावरण

है। हां, केवल तपस्या के उद्देश्य से तपस्या यहां का आदर्श नहीं है। आश्रम का तिमंजिला अतिथि-भवन, "गोलकण्डा", जिसके आकार की कल्पना रेमण्ड (Reymond) नाम के प्रसिद्ध अमरीकन गृह-निर्माणविद्या के विशेषज्ञ ने की थी, (इन्होंने ही शायद टोकियो के इम्पीरियल होटल का भी प्लेन बनाया था) आश्रम की भावना का ठीक द्योतक है। यह रिहाइशी मकान का एक अच्छा नमूना है। इसका फरनीचर उपयोगी भी है और सुन्दर भी।

★

★

आश्रम के समस्त क्रियाकलाप, कर्मव्यवहार श्रीअरविन्द के योग की अभिव्यक्तिमात्र हैं। यह योग रचनात्मक है, प्रगतिशील है। यह उतना ही भारतीय है जितना साक्षात् हिमालय पर्वत। शिष्यों को आकर्षित करने के लिये अथवा अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिये यहां कोई विशेष सुविधाओं के प्रलोभन नहीं दिये जाते।

यद्यपि आश्रम में कार्य का संगठन अत्यंत सुदृढ़ है फिर भी इसमें किसी प्रकार के दबाव और जल्दबाजी का नाम भी नहीं है।

★

★

हमें याद रखना होगा कि श्रीअरविन्द ने लगभग तीस ग्रन्थ लिखे हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से लेख तथा शिष्यों के नाम पत्र भी लिखे हैं। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, चाहे वह राष्ट्रीय शिक्षा पर हो अथवा कला पर, ठोस विद्वत्ता पर आधारित है। अंग्रेजी के अतिरिक्त वे फ्रांसीसी, यूनानी और संस्कृत भाषाओं को भी अधिकारपूर्वक जानते हैं। अंग्रेजी के संबंध में तो यह कहा जा सकता है कि जैसा अधिकार इस भाषा पर इनको है और उसमें जैसी सहज प्रसन्नता प्राप्त है, वैसी और किसी

भारतीय को नहीं। भाव-व्यंजन में जो सहज-ता तथा शब्द-विन्यास में जो पूर्णता इन्हें प्राप्त है उसकी तुलना नहीं मिलती। जैसा कि उनके शिष्यों को लिखे पत्रों से साफ प्रकट होता है, इन्होंने योग की बहुत स्पष्ट और संक्षिप्त शैली से व्याख्या की है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू ज्ञान और योग के सर्वोत्तम रहस्यों को, बिना जरा भी मिलावट के तथा अपने अनुभव और शक्ति से अधिक सबल बनाकर, आनेवाली पीढ़ियों के लिये पवित्र रूप में सुरक्षित कर दिया है।

श्रीअरविन्द भारत के उन्हीं महान् महर्षियों की परम्परा में आते हैं जो देश के चिरंतन गुरु और पथप्रदर्शक हैं। अवश्य ही जब तक श्रीअरविन्द हमारे बीच में हैं तब तक इस देश में धर्म और सद्-गुण रहेंगे।

—विजयतुंग

२

मुझे याद है कि कैसे, जब मैं १९४३ में चुंगकिंग से भारत आया तो श्रीअरविन्द के नाम ने मुझमें धार्मिक उत्साह पैदा किया तथा यह प्रेरणा दी कि मैं पांडिचेरी जाकर उनके दर्शन करूं। शुभ विचार अवश्य पूरा होता है। यह प्रेरणा भी पूरी हुई; मैंने २४ अप्रैल १९४५ के दिन श्रीअरविन्द के दर्शन किये। वह दिन मेरे जीवन के लघु इतिहास का एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है।

★ ★

श्रीअरविन्द का लक्ष्य है हमारे पार्थिव जीवन का रूपांतर साधित करना, हमारे अशिव तथा अपूर्ण लोक को, जिसमें असत्य, दुःख तथा ह्लास का राज्य है, परिवर्तित करके यहीं इसी भूतल पर सत्य-व्यवहार तथा आनंद का पूर्ण साम्राज्य स्थापित करना। आज के विचारकों में श्रीअरविन्द का यह सबसे मौलिक तथा नवीन भाव है। महान्

फ्रांसीसी लेखक, रोमैं रोलां (Romain Rolland), श्रीअरविन्द के संबंध में कहते हैं:—“विश्वीय की प्रतिभा तथा यूरोप की प्रतिभा का ऐसा पूर्णतम समन्वय है जो अब तक उपलब्ध किया गया है।” भारत के महान् कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब १९२८ में पांडिचेरी में श्रीअरविन्द से भेंट की, तो उन्होंने उनसे कहा था: “आपके पास दिव्य शब्द है, और हम इसे आपसे सुनने की प्रतीक्षा कर रहे हैं; भारत आपकी वाणी द्वारा संसार से कहेगा ‘मेरी बात सुनो’।” श्रीअरविन्द आज केवल एक अग्रणी एवं अत्यंत सिद्ध विचारक ही नहीं हैं अपितु ऐसे विचारक हैं जिन्होंने अपनी प्रधान कृति ‘दि लाइफ डिवाइन (दिव्य जीवन)’ के रूप में हमें इस युग का सबसे महान् ग्रन्थ प्रदान किया है।

★ ★

उन्होंने ईश्वरीय शब्द को नये ढंग से, आधुनिक अवस्थाओं के लिये, जीवन के हमारे स्तर के लिये व्यक्त किया है। ताओमत (Taoism) के सिद्धांत उसी आधार पर अवस्थित प्रतीत होते हैं जिसपर श्रीअरविन्द की शिक्षाएं; किंतु ताओमत वर्तमान युग में उस प्रकार चरितार्थ नहीं किया जा सकता जिस प्रकार श्रीअरविन्द की शिक्षाएं।

★ ★

भारतवर्ष के पास ऐसा समृद्ध दर्शन है कि वह और उसकी संस्कृति सदा अमर रहेगी। इसी प्रकार चीन और उसकी संस्कृति भी। भारत और चीन को, चिरंतन एवं निकट मित्रों के रूप में, सांस्कृतिक बंधुभाव बढ़ाना चाहिये। क्या ही अच्छा हो यदि भारत और चीन मिलकर एक महान् भविष्य रचने के लिये एवं संपूर्ण मानवजाति के हित के लिये उस पद्धति के अनुसार कार्य करें जिसके प्रवर्तक हैं श्रीअरविन्द।

—चू-शियांग-कांग

श्रीअरविन्द आश्रम

विद्वानों की गोष्ठी में कभी कभी यह प्रश्न पैदा हो जाया करता है कि वास्तव में मानव-संस्कृति और सभ्यता के लिये श्रीअरविन्द की सबसे बड़ी देन क्या है? इसके उत्तर में बहुतेरे अनायास ही 'भागवत जीवन (The Life Divine)', इस महान् दार्शनिक ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो गंभीरता से यह अनुभव करते हैं कि उनका आश्रम कहीं बड़ी रचना है। कोई ग्रन्थ कितना भी महान् क्यों न हो जीवन के एक अंश की, विचारों की, प्रतिलिपिमात्र है। इसके विपरीत, श्रीअरविन्द का आश्रम उनकी वह कृति है जिसे शुरू करने के लिये उन्होंने लगभग पन्द्रह साल तो तैयारी में बिताये और फिर जब से यह खुला है तब से यह उनके ध्यान का प्रथम विषय रहा है। आश्रम अवश्य उनके किसी भी ग्रन्थ से बड़ा है क्योंकि यहां संपूर्ण जीवन का नव निर्माण हो रहा है। यहां नव मानव, नव समाज और जगत् का नव भविष्य रचा जा रहा है।

संसार के इतिहास में हम अनेक आश्रमों तथा सांस्कृतिक केन्द्रों का उल्लेख पाते हैं, महान् गुरुओं के महान् परीक्षणों का विवरण पढ़ते हैं। उपनिषदों के आत्मवेत्ता कैसे अद्भुत गुरु थे। उनके आश्रम कैसी सौम्य रचनाएं थीं। परन्तु वे थोड़े कुलों की भांति ही। बौद्धकाल के विहार विशाल संगठन थे। परन्तु वे थे विश्वविद्यालयों की तरह जहां नैतिक विकास पर कुछ विशेष ध्यान दिया जाता था। शुद्ध आध्यात्मिक साधना के केन्द्र इतिहास में कम ही मिलते हैं। अफलातून ने अपनी एकेडेमी (academy) में ज्ञानी पैदा करने का क्रम बनाया था। परन्तु पीछे वह निराश हो गया और उस आयोजना में उसका पहले जैसा उत्साह नहीं रहा।

इनके विपरीत श्रीअरविन्द आश्रम एक विशुद्ध आध्यात्मिक केन्द्र है जिसका स्वरूप अच्छा बड़ा है तथा जो उत्तरोत्तर अदम्य गति से विकसित हो रहा है। इसके गुरु इसपर बीस वर्ष से अधिक परिश्रम कर चुके हैं और इसके भावी विकास में पूर्ण विश्वास रखते हैं।

आश्रम श्रीअरविन्द के योग तथा दर्शन का क्रियात्मक स्वरूप है। इसका जीवन श्रीअरविन्द के सिद्धांतों का परिचय देता है। एक आगंतुक जब यहां पहुंचता है तब उसे यह देखकर जरूर आश्चर्य होता है कि आश्रम शहर में ही बसा हुआ है—फिर चाहे शहर के एक सिरे पर ही क्यों न हो—तथा इसके अनेक भवन और मकान बिखरे हुए हैं। इन अनेक बिखरे हुए भवनों में से श्रीअरविन्द आश्रम विशेष रूप से उसे कहा जाता है जहां श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी रहती हैं तथा जहां दैनिक ध्यान के समय सब साधक साधिकाएं एकत्र होती हैं। इसके समीप ही आश्रम का एक विशाल भवन है जिसे गोलकुंड कहते हैं। यह सारे का सारा सीमेन्ट का बना हुआ है, और इस प्रदेश के जलवायु की दृष्टि से एक आदर्श मकान है। गृहनिर्माण-कला के माप-दण्ड से भी यह महत्त्वपूर्ण है। इसमें पचास अतिथियों के ठहरने का बहुत अनुकूल प्रबंध है। इन दो भवनों के अतिरिक्त लगभग छः और बड़े भवन हैं जो आश्रम के कुछ बड़े विभागों के काम में आ रहे हैं। इनमें स्कूल, मुद्रणालय, इंजीनियरिंग विभाग, गृहनिर्माण विभाग, पाकशाला और भोजनालय तथा गोशाला हैं। फिर आठ-दस छोटे भवन हैं जो जरा छोटे विभागों के काम में आ रहे हैं, जैसे औषधालय, मिस्त्रीघर, बड़ई घर, लोहार घर, सफाई विभाग, धुलाई विभाग, सिलाई विभाग और कागज-

निर्माण विभाग। पुस्तकालय और वाचनालय तो आश्रम के केन्द्रीय भवन के अंदर ही हैं। आश्रम के बाकी के मकान रिहाइशी हैं और उनमें स्थान के अनुसार साधक साधिकाएं और बच्चे रहते हैं। एक व्यक्ति के पास सामान्यतया अपना अलग कमरा है। आश्रम के जीवन में फूलों का विशेष स्थान है। वे अलग अलग आध्यात्मिक गुणों तथा अवस्थाओं के द्योतक माने जाते हैं और पूजा और भेंट में विशेष रूप से काम में आते हैं। इसलिये जहां जहां कुछ अवकाश है रुचि रखनेवाले व्यक्ति फुलवाड़ियां लगाते तथा उनकी देखभाल करते हैं। इसके अतिरिक्त फूलों के उपजाने के लिये एक समूचा विभाग भी है। आश्रम के पास कृषि के लिये अपनी लगभग ५० एकड़ भूमि भी है। उसमें साग-सब्जी, फल और चावल होते हैं। अंत में उन दो-तीन खेल के मैदानों का भी उल्लेख करना आवश्यक है जहां क्या बच्चे, क्या बड़े, सभी सायंकाल इकट्ठे होकर इतना आनंद लाभ करते हैं।

ये सारे विभाग तथा इनके कार्यव्यवहार आश्रम के सामान्य क्रियात्मक जीवन को उपस्थित करते हैं। इनके अतिरिक्त हमें यहां की साहित्यिक तथा कलात्मक प्रगतियों का भी उल्लेख करना होगा। आश्रम का साहित्य अच्छा विस्तृत है और यह आधुनिक भारत की संसार को एक महत्वपूर्ण देन है। यहां का मुद्रणालय आश्रम की पुस्तकें छापता है, और साथ में चार त्रैमासिक तथा तीन वार्षिक ग्रन्थ भी प्रकाशित करता है। ये प्रकाशन, वास्तव में, आठ भाषाओं में होते हैं; अंग्रेजी और फ्रांसीसी तथा संस्कृत, हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल और तेलगू। ललित कलाओं में से संगीत और चित्रकला का आश्रम-जीवन में अच्छा स्थान है।

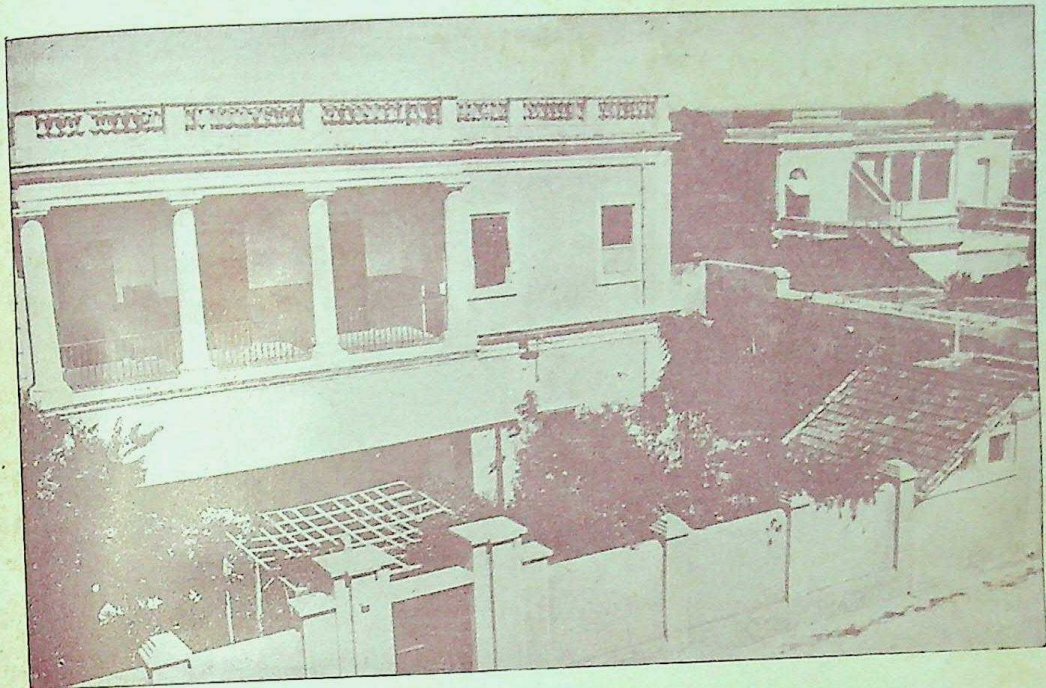
कला की भावना आश्रम के जीवन में सामान्य रूप से भी काफी देखने को मिलेगी। साधकों के व्यक्तिगत जीवन में, उनके उठने बैठने, खाने पीने,

बोलने चालने तथा पहरावे आदि में कला का स्पर्श दिखायी देगा। उनके कमरे की साज-सजावट में भी वही संस्कार मिलेगा तथा उनके कार्य-संपादन में भी सौन्दर्य की भावना दिखायी देगी। फिर भी जीवन में सादगी है यद्यपि तपस्या की कठोरता नहीं। आश्रम के वातावरण में मेज, कुरसी तथा वर्तमान जीवन की सामान्य वस्तुएं सभी मिलेंगी। सब जगह अच्छी सफाई, नियम और क्रम दिखायी देंगे।

जरा ध्यान से देखने से बाह्य सफाई और नियम-क्रम के परे मनुष्य उस चेतना को भी किसी अंश में अनुभव करने में सफल हो सकता है जो कि साधकों को प्रेरित करती है। वास्तव में महत्त्व की बात है भी वही—उनकी आन्तरिक भावना, चेतना और मनोवृत्ति। कर्म उसकी साधना का माध्यम है। कर्म की अपनी बहिर्मुखी पूर्णता उद्देश्य नहीं। उद्देश्य है चेतना का विकास, उसकी सम्यक् सजगता। इसमें संदेह नहीं कि इसके होने से कार्य में पूर्णता आ ही जाती है।

मानवी व्यक्तित्व किस हद तक आन्तरिक रूप में सुव्यवस्थित तथा संगठित है इसका मापदण्ड है प्रसन्नता। जिस व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में द्वंद्व और संकट जितने अधिक होते हैं उसमें फिकर, चिंता और भय भी उतने ही अधिक होते हैं। और जिनका आन्तरिक जीवन जितना स्वस्थ होता है उतना ही उसमें आनंद का भाव अधिक विकसित होता है। यदि इस प्रकार प्रसन्नता और आनंद के मापदण्ड से आश्रम को देखा जाय तो इसके कार्य का महत्त्व और भी प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि आश्रम के कोने कोने में आनंद की भावना देखने को मिलती है। एक अमरीकन पत्रकार ने आश्रम के संबंध में सुन्दर उक्ति कही थी “हम ऐसी संस्था की निन्दा नहीं कर सकते जहां इतने आनंद का वातावरण हो।”

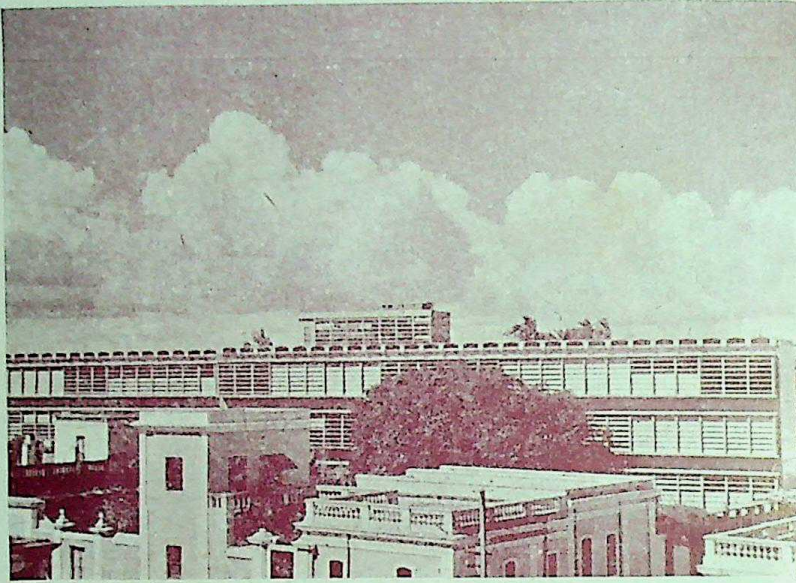
कोई भी आगन्तुक आश्रम में पहुंचने पर शीघ्र ही जान लेता है कि वह एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थान



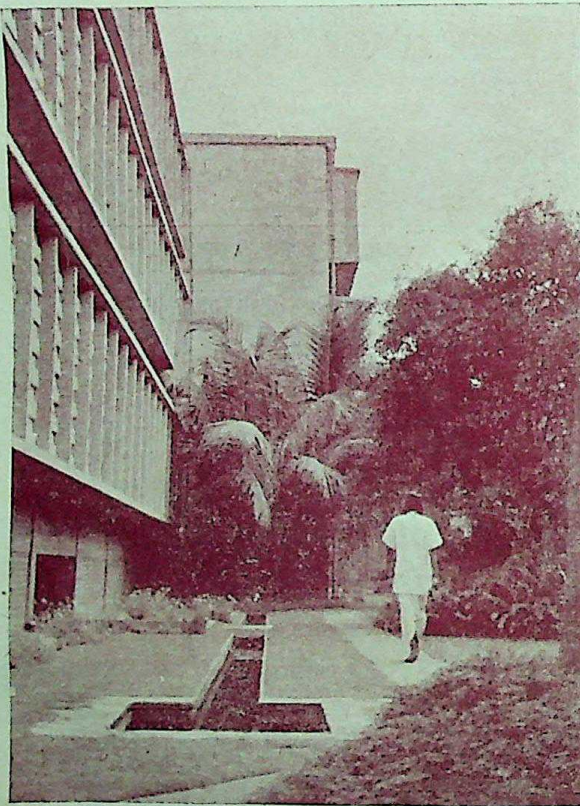
सामने से



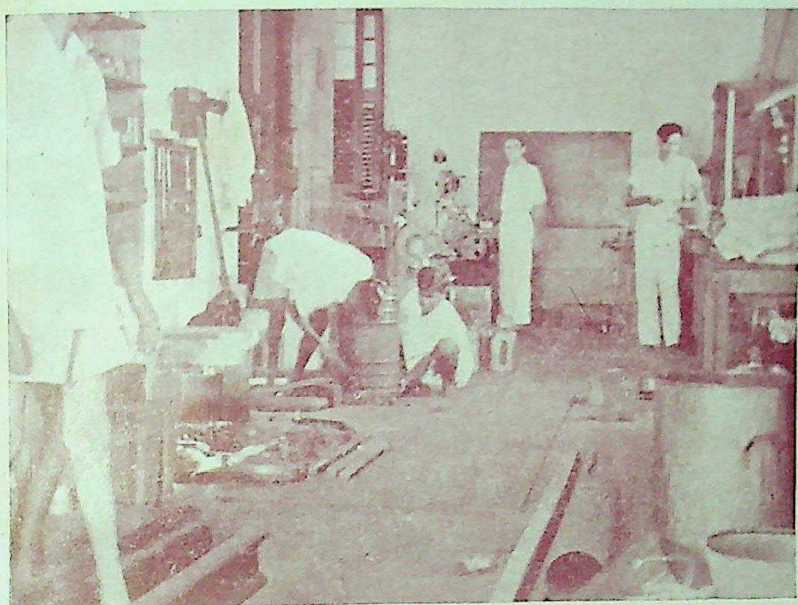
पीछे से तथा जरा हटकर ऊंचाई से



एक दृश्य



दूसरा दृश्य



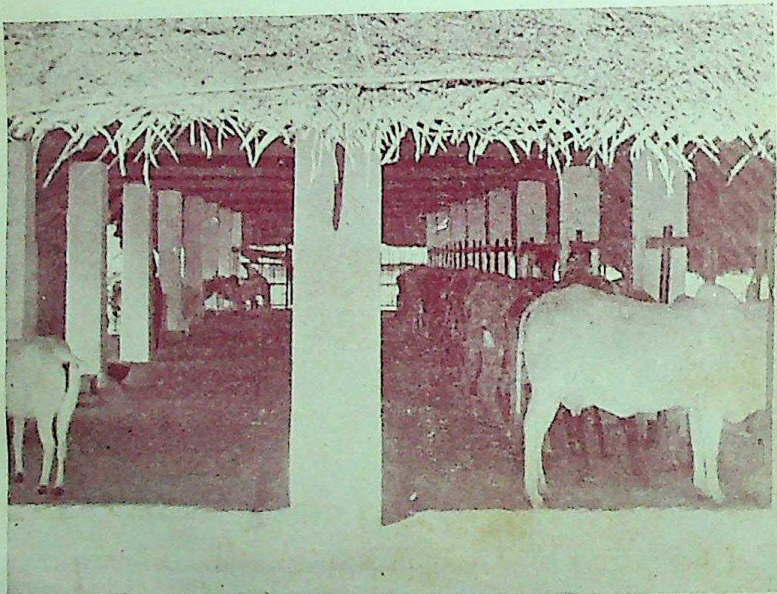
मिस्त्री-घर



मुद्रणालय का मोनोटाइप विभाग



धान की कटाई



गोशाला

में आ गया
लोगों के
देखता है।
में मिलजु
एक समन्व
रहे हैं। य
प्रस्तावों की
सामान्य उ
मानव-संस्
कार्य इस
प्रेरक और
जीवन तथ
का पूर्ण
आश्रम
उनमें एक
लेखक है
इंजीनियर
या वकील
सामान्य
आश्रम
एक सर्वा
के सर्वांगि
स्थिति उ
मुख संबं
रूपांतरित
श्यक है
बनाकर
पक्ष में न
संपूर्ण चि
न्द संपूर्ण
दृष्टि में
उपयोगी
साधक
पूरा पूरा

में आ गया है। वह भारत के प्रत्येक प्रांत के लोगों के बीच में यूरोपीय स्त्री-पुरुषों को भी देखता है। पूर्व और पश्चिम के ये साधक वास्तव में मिलजुलकर श्रीअरविन्द की प्रेरणा के अधीन एक समन्वयात्मक मानव-संस्कृति को विकसित कर रहे हैं। यहां मानव एकता संपादित करने के लिये प्रस्तावों की चर्चा नहीं है; यहां तो मानव जीवन के सामान्य आधारभूत तथ्यों की नींव पर रचनात्मक मानव-संस्कृति का निर्माण हो रहा है। यह महान् कार्य इस कारण संभव हो रहा है क्योंकि इसके प्रेरक और रचयिता ऐसे महापुरुष हैं जिन्हें मानव जीवन तथा सत्ता के मौलिक आध्यात्मिक सत्यों का पूर्ण ज्ञान है।

आश्रम में साधकों में सभी श्रेणियों के लोग हैं। उनमें एक ओर कवि हैं, चित्रकार हैं, गायक हैं, लेखक हैं तथा दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जो पहले इंजीनियर थे, व्यापारी थे, प्रोफेसर थे, एडवोकेट या वकील थे, फौज में लेफ्टिनेन्ट थे या जीवन की सामान्य स्थितियों में से किसी में भी थे।

आश्रम के साधक, साधिकाएं तथा बच्चे मिलकर एक सर्वांगीण समाज बनाते हैं। और श्रीअरविन्द के सर्वांगीण योग की साधना के लिये उपयुक्त परिस्थिति उपस्थित करते हैं। यहां जीवन के बहु-मुख संबंध अपने समृद्ध रूप में मौजूद हैं, जो एक रूपांतरित संपूर्ण समाज पैदा करने के लिये आवश्यक हैं। श्रीअरविन्द का योग जीवन को एकांगी बनाकर उसमें शीघ्रता से एकांगी पूर्णता लाने के पक्ष में नहीं है। उनका उद्देश्य है सामान्य जीवन के संपूर्ण चित्र को रूपांतरित करना। इसलिये श्रीअरविन्द संपूर्ण जीवन को लेकर ही चलना चाहते हैं, उनकी दृष्टि में सामाजिक जीवन के सभी सामान्य संपर्क उपयोगी हैं और इन विभिन्न संपर्कों के कष्टों को साधक अपनी त्रुटियों का द्योतक मानकर इनसे पूरा पूरा आध्यात्मिक लाभ उठाने का यत्न करें।

आश्रम के विस्तार और संगठन को देखकर अनिवार्य रूप से यह प्रश्न पैदा होगा कि इसका निर्वाह कैसे चलता है? महापुरुष, ऋषि या आचार्य के व्यक्तित्व में तथा उनके कार्य में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले लोग स्वेच्छा से जो सहायता दिया करते हैं उसीसे आश्रम आदि स्थानों का निर्वाह होता है और उसी प्रकार श्रीअरविन्द आश्रम का भी काम चलता है। जो लोग यहां साधक रूप में आकर स्वीकृत हो गये हैं और जो अपने अंदर भगवान् अथवा आत्मा-विषयक गंभीर पुकार अनुभव करते हैं वे फिर सामान्यतया अपने आपको तथा जो उनके पास है उसे गुरु की भेंट कर देने में ही आनंद मानते हैं। जो दर्शक-रूप में कुछ समय के लिये आते हैं वे प्रायः अपना रहने-सहने आदि का खर्च स्वयं देते हैं।

परंतु आश्रम के जीवन में ऐसे नियम बहुत ही कम हैं जिन्हें अनिवार्य कहा जा सके। आश्रम में मांस, शराब, धूम्रपान आदि का प्रयोग नहीं होता। ब्रह्मचर्य-पालन पर विशेष जोर है। शायद इसी तरह की दो-एक बातें ही और कही जा सकती हैं जो नियम के रूप में देखने में आती हों। पर ये भी, वास्तव में, सामान्य व्यवहार का अंग बनी हुई हैं। वे साधकों के मन की सहज प्रेरणाएं हैं, वे उन्हें किन्हीं घोषित नियमों और आज्ञाओं के रूप में कम ही देखते हैं। ऐसे निर्धारित नियम-कानून न होने का विशेष कारण है और इसका श्रीअरविन्द-योग के स्वरूप के साथ गहरा संबंध है। जहां व्यवहार का नियंत्रण उद्देश्य न हो, बल्कि आन्तरिक चेतना को बदलना ही लक्ष्य हो, वहां अवश्य ही बाह्य आज्ञाओं का कोई विशेष स्थान नहीं हो सकता। परंतु शंका होगी कि फिर श्रीअरविन्द आश्रम-जैसे सामाजिक केन्द्र में मर्यादा कैसे कायम रखी जाती है। यह, वास्तव में, आश्रम के जीवन का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसपर विचार करने

से व्यक्ति आश्रम की मूल प्रेरणाओं तक पहुँच सकता है, उसकी आधारभूत संचालिका शक्ति को किंचित् अवगत कर सकता है।

साधकों के बाह्य व्यवहार की कई समान बातें आगन्तुक शीघ्र ही अनुभव कर लेता है। भोजन एक ही है, वस्त्र भी प्रायः एक जैसे ही हैं तथा रहन सहन के अन्य कई क्रमों में भी समानता है। परन्तु ये भी दृढ़ नियम के रूप में लागू नहीं हैं। इनसे भिन्न स्थितियाँ भी थोड़े ही समय में दिखायी देने लगेंगी। वास्तव में, आध्यात्मिक जीवन में फौजी नियंत्रण का स्थान नहीं हो सकता। विना सोचे समझे यंत्रवत् कार्य करनेवाले मशीन के पुरजों-जैसे मानव व्यक्ति पैदा करना आश्रम का उद्देश्य नहीं, सजग, सचेत, गंभीर आन्तरिक स्वप्रेरणा से प्रेरित होकर कर्म करनेवाले आत्मावलम्बी देवमानवों का सृजन करना लक्ष्य है। ऐसी स्थिति में

हर एक व्यक्ति अपने आपमें ध्येय होगा। फिर क्योंकि कोई दो व्यक्ति बिल्कुल एक ही विकासस्थिति में नहीं हो सकते, इसलिये दो व्यक्तियों के प्रति गुरु का व्यवहार और उपचार भी एकसा नहीं हो सकता। यह वास्तव में आत्म-जीवन का एक मौलिक तथ्य है और इसको भली प्रकार न जानने से आश्रम की बाह्य मर्यादाओं को यथार्थ रूप में समझना कठिन हो जाता है। कोई भी सहज ही आश्रम को एक प्रकार का 'सं-गठन'—बाहर से नियम-कानून द्वारा जोड़ा हुआ, संघटित किया हुआ—मानने लगेगा; उसे वह एक प्रकार की शिल्प-रचना, कलासृष्टि के रूप में—अंदर की प्रेरणा से बाहर प्रकट हुए जीवन के रूप में—नहीं अधिगत कर सकेगा। परन्तु श्रीअरविन्द आश्रम अपने वास्तविक अर्थों में एक रचना है, सहज विकास है, जिसकी मौलिक शक्ति आत्मा की भगवत्प्रेरणा है, बाह्य समानताएं गौण परिणाममात्र हैं।

(खण्डशः)

—इन्द्रसेन

धार्मिकता, नैतिकता, आध्यात्मिकता

धार्मिक जीवन आध्यात्मिक जीवन के लिये प्रथम प्रवेशपथ हो सकता है, परन्तु प्रायः विधि-विधानों, संस्कार आदि क्रिया-कलापों और रीति-रिवाजों या बनी-बनायी धारणाओं और परिपाटियों के घेरे में इधर-उधर चक्कर काटते रहना ही इस जीवन का स्वरूप होता है और इससे कुछ परिणाम नहीं निकलता। इसके विपरीत, आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है सीधे चेतना के परिवर्तन से, अर्थात् अपनी वास्तविक आत्मा तथा ईश्वर से पृथक् हुई-हुई अज्ञानमयी साधारण चेतना का उस महत्तर चेतना में परिवर्तन होने से जिसमें व्यक्ति अपनी सच्ची सत्ता को जान लेता और पहले तो भगवान् के साथ साक्षात् सजीव संस्पर्श और फिर उनके साथ मिलन को प्राप्त करता है। चेतना का यह परिवर्तन ही आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिये एकमात्र कामनीय वस्तु है, और कोई भी चीज उसके लिये महत्त्व की नहीं।

नैतिकता साधारण जीवन का एक अंग है; यह बाह्य आचार को किन्हीं मानसिक नियमों द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयास है अथवा उन नियमों द्वारा किसी मानसिक आदर्श के अनुरूप चरित्र को गढ़ने का प्रयत्न है। आध्यात्मिक जीवन मन से परे जाता है; वह आत्मा की गंभीरतर चेतना में प्रवेश करता और आत्मा के सत्य में से कर्म करता है। नैतिक जीवन और ईश्वर का साक्षात्कार करने की आवश्यकता के बारे में जो प्रश्न है उसके विषय में यह कहना है कि सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि सार्थकता और कृतार्थता से तुम्हारा क्या अभिप्राय है। यदि आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश इस (सार्थकता) का भाग है, तो केवल नैतिकता से तुम्हें यह चेतना प्राप्त नहीं होगी।

—श्रीअरविन्द के पत्रों से

मन क्रि

प्रश्न—“अ
पर जो श्रीअ
विचार’ शी
तीन रास्ते
माध्यम या
रास्ते अति
तरह समझ
समझाने क
पाठकों को

उत्तर—

उससे पहले
बल दिया
क्रिया अपन
पाने में, को
वास्तव में
है। तो प्र
मन को अ
सकते हैं ?
कि मनसं
है। पहल
जाय, आ
उच्चतर
मन की च
विशालतर
चेतना हम
निश्चित

जिज्ञासुओं की सेवा में

(१)

मन किस प्रकार योग का उपयुक्त साधन
बन सकता है

प्रश्न—“अप्रैल १९४७ की अदिति के पृष्ठ १५ पर जो श्रीअरविन्द का एक पत्र ‘योग और मानसिक विचार’ शीर्षक से छपा है उसमें कहा गया है ‘केवल तीन रास्ते हैं जिनसे यह (मन) परम सत्य का माध्यम या यंत्र बन सकता है।’ यद्यपि आगे ये तीन रास्ते अति संक्षेप में बताये भी गये हैं पर वे अच्छी तरह समझ में नहीं आते। इन्हें जरा विस्तार से समझाने की कृपा करें। इससे अदिति के अन्य पाठकों को भी लाभ होगा।”

उत्तर—पत्र का जो वाक्य आपने उद्धृत किया है उससे पहले के भाग में श्रीअरविन्द ने इस बात पर बल दिया है कि मन, मानसिक विचार या मानसिक क्रिया अपने आपमें, अपने बल से, परम सत्य को पाने में, कोई भी सत्य अनुभूति प्राप्त करने में अर्थात् वास्तव में योगारूढ़ होने में ही असमर्थ है, अशक्त है। तो प्रश्न होता है कि फिर क्या करना चाहिये? मन को अपने साथ रखते हुए हम कैसे योगारूढ़ हो सकते हैं? इसके उत्तर में श्रीअरविन्द ने कहा है कि मनसंबंधी तीन रास्ते हैं जिनसे यह हो सकता है। पहला रास्ता यह है कि मन इतना शांत हो जाय, आत्मगत होकर इतना प्रशांत हो जाय कि उच्चतर चेतना को आने का अवकाश मिल जाय। मन की चंचलता, अशांति के कारण उच्चतर और विशालतर (अधिक ऊंची और अधिक विस्तृत) चेतना हमारे अंदर नहीं आ पाती है। अतः मन के निश्चित रूप से, अनिवार्य रूप से, प्रशांत होने पर

उच्चतर चेतना को आने का और स्थिर होने का अवकाश मिल जाता है। और उस उच्चतर चेतना में वे परम सत्य या सच्ची अनुभूतियाँ आ सकती हैं जिन्हें मन स्वयं नहीं ग्रहण कर सकता। दूसरा मार्ग यह हो सकता है कि मन किसी तरह आन्तर प्रकाश के लिये निष्क्रिय हो जाय, निष्प्रतिरोध हो जाय। मन अपनी निजी सक्रियता छोड़ दे और उस प्रकाश के प्रति निष्प्रतिरोध हो जाय तो वह आन्तर प्रकाश हमारे मन को अपने हाथ में ले लेगा, अपना उपकरण बना लेगा। पहले उपाय में मन की शांति पर जोर है, दूसरे में मन के निष्प्रतिरोध होने पर। पहले में मन आत्मगत और शांत किया जाता है, जिसका फल यह होता है कि ऊंची चेतना स्वयमेव सावकाश हो जाती है। दूसरे में मन को आन्तर प्रकाश के लिये निष्प्रतिरोध किया जाता है जिससे कि वह प्रकाश मन को अपना साधन बना लेता है। मन की दृष्टि से, पहले में मन का शांत होना अभिप्रेत है, दूसरे में मन का आन्तर प्रकाश के लिये साधन बन जाना। और तीसरे में मन के स्वरूप को ही बदल देना होता है। इसमें मन अपने वर्तमान स्वरूप—संदेहशील, तर्कपरायण, उथले स्वरूप—को बदलकर अन्तर्ज्ञान, अन्तःस्फुरणा, अन्तर्दृष्टि से युक्त नये प्रकार का मन,—सब कुछ स्पष्ट देखने-वाला, सीधा ज्ञान पानेवाला और विशाल—बन जायगा। सो ऐसा मन सत्य को सीधा ग्रहण करने के योग्य होगा। ये एक से एक बलवत्तर मार्ग हैं।

तात्पर्य यह कि अपनी अपनी अवस्था या प्रकृति के अनुसार प्रत्येक को इनमेंसे किसी न किसी मार्ग से मन का एक प्रकार का अतिक्रमण करना होगा,

तभी वह इस योग की साधना करने में अग्रसर हो सकेगा। एवं अन्त में ये तीनों रास्ते एक हो जाते हैं।

(२)

रोग का परित्याग

प्रश्न—“मातृवाणी” में माताजी का एक वचन है ‘शरीर को चाहिये कि वह रोग को वैसी ही प्रबलता के साथ त्याग दे जैसे कि हम मन में से झूठ को त्यागते हैं।’ रोग की चिन्ता न करना, हाय हाय न करना, दुःख-दर्द की तरफ से दृष्टि हटाये रखना अथवा उसे खुशी से सहन करना, यह समझकर कि कोई कर्मफल है ‘वाह वाह! पाप किये हुए का कर्जा उतर जायगा’ या ‘यह समझकर कि ‘प्रभु ने इसी में मेरा आगामी मंगल रखा होगा’, यह सब तो किया जा सकता है पर यह समझ में नहीं आया कि झूठ की तरह उसे शरीर त्याग दे।

“जिसे कोई असाध्य कष्ट जैसे दमा, भगंदर है या अकस्मात् चोट लगने से जिसकी टांग या बाजू टूट गया है और वह प्रबल पीड़ा से ग्रस्त है, वह उसे कैसे त्याग सकता है? कृपया इसपर प्रकाश डालियेगा।”

उत्तर—जैसे मन को शांत रखने के विषय में लोगों को श्रीअरविन्द की यह बात प्रायः समझ में नहीं आती कि ‘विचार बाहर से आते हैं, अंदर से नहीं उठते’, वैसी ही यह बात भी है। अंदर आत्मा की दृष्टि से देखें तो शरीर में रोग भी बाहर से आता है, अंदर से नहीं आता। यह बात जब अनुभव में आ जायगी तभी रोग के परित्याग करने की बात भी समझ में आ जायगी और इसे क्रियात्मकतया किया भी जा सकेगा।

आत्मा आमय, रोग, पीड़ा, दर्द से अस्पृष्ट है, नित्यमुक्त है। अतः आत्मा का प्रभाव शरीर ग्रहण करेगा तो शरीर में कोई रोग, दर्द नहीं आ सकेगा, आवेगा भी तो वह ठहर नहीं सकेगा। यह बात

जान लेनी, समझ लेनी, अनुभव कर लेनी चाहिये। आत्मा के सत्य के प्रभाव में शरीर निरामय, नीरोग, ठीक ठीक अपना कार्य करनेवाला, समर्थ होगा। उसके सामने सब रोग, बीमारी, पीड़ा असत्य हैं, मिथ्या हैं। सब रोग शारीरिक झूठ हैं। उन्हें आत्मा सहन नहीं करेगा। आत्मा के प्रकाश के सम्मुख सब रोग, बीमारी, पीड़ा अंधकार हैं, छाया हैं। ये आत्मा के जागते हुए ठहर नहीं सकते। यह है ठीक वृत्ति जिसे दृढ़ करना चाहिये। इसीलिये वेद में तो रोग को हमेशा पाप, असत्य, बुराई कहा गया है। और वेद में, विशेषतया अथर्ववेद में, रोग को अयोग्य वस्तु की तरह त्याग देना, हटा देना, निकाल देना है इस प्रकार का बहुत स्पष्ट वर्णन भी जगह जगह आता है। रोग के विषय में वही ठीक धारणा है जिसे हमें अपनाना चाहिये।

रोग की चिन्ता नहीं करना, हाय हाय नहीं करना, उधर से वृत्ति हटाना यह तो करना ही चाहिये। यह तो प्रारंभिक बात है। पीड़ा, कष्ट को सहन करना भी ठीक है, यह मानकर कि अभी मेरी ऐसी ही अवस्था है, इसे एकदम हटाने की शक्ति नहीं है, धीरे धीरे ठीक होगा, इस प्रकार धैर्य, समचित्तता और शांति के साथ कष्ट के समय को व्यतीत करना। पर रोग को ठीक वस्तु, योग्य वस्तु कभी नहीं मानना चाहिये। वेद की भाषा में ‘रोग पाप है’ यह समझकर, रोग को सदा त्याज्य समझकर उससे अन्ततः रहित होना, मुक्त होना है यह भाव रखना चाहिये। रोग से किसी प्रकार की (छिपी हुई) आसक्ति, प्रीति बहुत हानिप्रद है। अतः रोग को सहन करने का अर्थ उसके साथ कोई लगाव कदापि नहीं होना चाहिये।

और आध्यात्मिक दृष्टि से कोई रोग असाध्य नहीं माना जा सकता। अध्यात्म-दृष्टि में रोग की सुसाध्यता या दुःसाध्यता भी आम लोगों की दृष्टि से बहुत भिन्न होती है। जैसे कि दमा (श्वास)

अध्यात्म-दृष्टि में रोग दिन में स... तरह भग... सकता है।... से अपनेको... समझते हैं... शरीर की... हुई है।... भी नहीं है... है, हमारा... हमारा श... हटावेगा,

‘अ... प... अ... और... अटल... प्रति... के... प्रति... आज... संतव... का... योग... भी... संसा... आश... से

अध्यात्म-दृष्टि से बहुत सुसाध्य हो सकता है, एक दिन में समाप्त हो जाय यह बहुत संभव है। इसी तरह भगंदर भी आसानी से बहिष्कृत किया जा सकता है। सारी बात यह है कि हम उस बीमारी से अपनेको पृथक् अनुभव कर सकें। पर हम तो समझते हैं कि बीमारी हमारे शरीर में है, हमारे शरीर की है, शरीर में उत्पन्न हुई और वहां जमी हुई है। बीमारी हमारी नहीं है, हमारे शरीर की भी नहीं है, यह बिल्कुल विजातीय वस्तु है, बाहरी है, हमारा शरीर इसका स्थान नहीं हो सकता। हमारा शरीर (अन्नमय आत्मा) इसे स्वभावतः हटावेगा, रहने नहीं देगा यह बात समझ में आ

जानी चाहिये, दीख जानी चाहिये। तब बहुतसे असाध्य-से दीखनेवाले रोगों का भी थोड़ी देर में ही चामत्कारिक पलायन हो जा सकता है। हां, हड्डी टूट जाना बेशक ऐसा रोग है जो कि धीरे धीरे देर में ठीक होगा। क्योंकि इसका संबंध शरीर के अधिक कठोर, स्थूलतम या जड़तम भाग के साथ है। तात्पर्य यह कि पाचनक्रिया, श्वासक्रिया, हृदय-क्रिया आदि पर आत्मा का प्रभाव पड़ना सरल है, हड्डी पर, जोड़ों पर, अंगों की स्थूल रचनाओं पर बहुत कठिन। इन अंगों की जड़ता उस प्रभाव को ग्रहण करने में प्रायः अशक्त होती है।

—अभय

अदि ति . . . कुछ नई सम्मतियां

‘अदिति’ की दिनानुदिन उन्नति के लिये आपको सभा बधाई देती है—मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा

पत्रिका का प्रकाशन, संपादन सभी दृष्टियों से स्तुत्य है—पं. धर्मदेव शास्त्री, संपादक ‘कर्मयोग’

अदिति के प्रति मेरे मन में बड़ा स्नेह और आदर-भावना है। पत्रिका बहुत ही सात्विक और उपयोगी है।
—यशपाल, संपादक ‘जीवन-साहित्य’, नई देहली

‘अदिति’ अपनी समता का अद्वितीय पत्र है, इसमें आर्य-वैदिक पद्धति के सिद्धांतों का अटल स्रोत प्रवाहित होता रहता है। ‘अदिति’ भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का एकमात्र प्रतीक है।
—कविभूषण रामचन्द्र शास्त्री, संपादक ‘दाधीच’, थांवला (मारवाड़)

‘अदिति’ भारत के त्रैमासिक साहित्य में विशेष स्थान रखती है। उसका उद्देश्य कल के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और आज के तपस्वी श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करना है परंतु उसकी सामग्री से स्पष्ट है कि उसमें ‘वाद’ का आग्रह नहीं है।.... आज के युग में जिस वैज्ञानिक विचारधारा की पुकार है उसी के आधार पर वह अपने मंतव्यों को जनता तक पहुंचाना चाहती है।
—‘आजकल’, दिल्ली

इसके लेख अध्यात्म के अनेक निगूढ़ विषयों पर प्रकाश डालते हैं और भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करते हैं। जो अध्यात्म के प्रेमी हैं उनके लिये यह पत्रिका बहुत ही उपयोगी और लाभदायक है। इससे उन्हें प्रेरणा ही नहीं, मानसिक और अत्यधिक शांति भी प्राप्त होगी। विज्ञान के इस युग में योगी अरविन्द ने अपने आध्यात्मिक अन्वेषण से संसार को चकित कर दिया है। हम इस पत्रिका की हृदय से सफलता चाहते हैं और आशा करते हैं कि यह संसार के कोने कोने में पहुंचकर अपने अध्यात्म के दिव्य प्रकाश से उसके तम को हरने और आनंद की ज्योति छिटकाने में समर्थ होगी।
—प्रताप, कानपुर

कविताकुंज-

अग्नि

दीप्त अभीप्से, मुझको तू ले जा सत्पथ पर,
 यज्ञ कुंड हो मेरा हृदय, अग्नि हे भास्वर !
 प्राण बुद्धि मन की प्रदीप्त घृत आहुति पाकर
 मेरी ईप्सा को पहुंचा दे परम व्योम पर !
 तू भवनों में व्याप्त, निखिल देवों की ज्ञाता,
 यज्ञ अंश के भागी वे, तू उनकी त्राता !
 निशि दिन बुद्धि कर्म की हवि दे, भूरि कर नमन,
 आते हम तेरे समीप, हे अग्नि, प्रतिक्षण !
 निज यज्ञों में मरणशील हम करते पूजन
 उस अमृत्य का जो सबके अंतर में गोपन !
 यदि तू मैं, मैं तू बन जाऊं, शिखे ज्योतिमय,
 तो तेरे आशीष सत्य हों, जीवन सुखमय !
 मन से, ज्ञान रश्मियों से कर तुझे प्रज्वलित
 हम सद्बुद्धि, तेज, सत्कर्मों को पाते नित ।
 जिन जिन देवों का करते हम अर्हनिश यजन
 वे शाश्वत विस्तृत हवि तुझको अग्नि समर्पण !
 ज्योति प्रचेता, निहित अकवियों में तू कवि बन,
 मर्त्यों में तू अमृत, वरुण के हरती बंधन !
 कैसे तुझे प्रसन्न करें हम, वरें दीप्त मन,
 ज्ञात नहीं पथ, प्राप्त नहीं तप, बल या साधन !
 कौन मनीषा यज्ञ भेंट दें, कौन हवि, स्तवन,
 जिससे अग्नि, शिखा तेरी कर सके मन वहन !*

—सुमित्रानंदन पंत

*सालभर के अंदर ही, श्री सुमित्रानंदन पंत की 'स्वर्ण किरण' के बाद अब 'स्वर्ण धूलि', एक दूसरी प्रतिभापूर्ण रचना, प्रकाशित हुई है। पंतजी में 'नित्य' और 'अनंत' के लिये एक गंभीर भावना है। उनकी हर कविता में, वह किसी भी विषय पर क्यों न हो, एक अपना ही गांभीर्य रहता है। 'स्वर्ण धूलि' में वैदिक मंत्रों की प्रेरणा से लिखी हुई भी कुछ अपूर्व कविताएं हैं। उन्हीं में से यह एक है। अधिक रस के लिये पाठक को मूल पुस्तक पढ़नी होगी।—सं०

प्यासे मेरी देह-पुरी के देव

सूर्य-चन्द्र मेरे नयनों में राज रहे हैं,
मित्र-वरुण मेरे कर्णों में साज रहे हैं,
देव अश्विनी प्राणों में रहते स्वयमेव,
फिर भी प्यासे देह-पुरी के देव ?

बन में, बाग-तड़ाग तथा खेतों में,
पात-पात में, फूल-फूल बेलों में,
झांकी देते छैल छवीले देव,
प्यासे क्यों ये देह-पुरी के देव ?

श्वास चल रहा है पर सूखा-सूखा,
तपःतप्त मैं स्नेह-मुधा का भूखा,
छिटका दो मुस्कान छटा अधिदेव,
प्यारे मेरी देह-पुरी के देव ।

रोम-रोम से उठें दिव्यतम गान सुरीले,
प्रेममयी तानों में निकलें छन्द रसीले,
पावन प्रेम प्रवाह सहित आओ स्वयमेव,
प्यासे मेरे देह-पुरी के देव ।

—विद्याव्रत

अवतार

तुम्हारा प्यार !

हृदय से हूक उठती
गगन के पार जाती,
निरंतर खोज करती,
परम आधार !

तुम्हारा नाम लेती,
मधुर मुरली निनादित,
क्षितिज होता तरंगित,
कहाँ, ओ नादकारी
छिपे हो छद्मधारी ?
निठुर व्यवहार !

तुम्हारी शांति, विभुता,
डराती विपुल प्रभुता,
दिखाओ रूप मोहन !
समर्पित प्राण-तन-मन ।
सुखामृतसार !

महीतल पर पधारो,
जगत् जीवन संवारो,
उदित विज्ञान होवे,
तमस् अवसान होवे;
सिद्धि साकार !

—रघुवीर शरण

जगत् ब्रह्म
और रूप में
आशय आनंद
ही हो सकता
दूसरा आशय
(तैत्तिरीय)
किया है—आन
आनंदेन जात
न्तीति । आन
उत्पन्न हुए ज
श्रीअरवि
अंग या स्थि
देश-काल मे
समष्टि-रूप
समष्टि तथ
गत्यात्मक
स्वयं इनमें
पूर्ण सत्ता है
परे, परात्प
व्यष्टि, सम
स्थितियां है
नित्य हैं, व्य
ब्रह्म । परं
में कल्पित
रूप से एक
'अनेकत्व'
विभेद हो
विचार प

श्रीअरविन्द-दर्शन

तीसरी विचारधारा

श्रीअरविन्द-दर्शन—विहंगम-दृष्टि

(२)

जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, स्व-प्रकाश है, नाम और रूप में आत्म-चरितार्थता है। इसमें उच्चतम आशय आनंद की प्रेरणा से आनंद की उपलब्धि ही हो सकता है। पूर्ण और केवल ब्रह्म के लिये कोई दूसरा आशय संगत हो ही नहीं सकता। उपनिषद् (तैत्तिरीय) ने इस तथ्य को खूब बलपूर्वक व्यक्त किया है—आनंदाद्ब्रह्म खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनंदेन जातानि जीवन्ति। आनंदं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। आनंद से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनंद से उत्पन्न हुए जीते हैं और आनंद को ही प्राप्त होते हैं।

श्रीअरविन्द के लिये पूर्ण ब्रह्म के तीन अनिवार्य पक्ष, अंग या स्थितियां हैं। जगत् या विश्व उसका असीम देश-काल में सार्वभौम रूप है। इस सार्वभौम या समष्टि-रूप का व्यष्टि एक अनिवार्य अंग है। ये समष्टि तथा व्यष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, उसके गत्यात्मक भाव के मूर्त्तिमान् रूप हैं। परंतु वह स्वयं इनमें परिसमाप्त नहीं हो जाता। क्योंकि वह पूर्ण सत्ता है, उसका सांत व्यष्टियों के परे, जगत् के परे, परात्पर रूप होना भी अनिवार्य है। इस प्रकार व्यष्टि, समष्टि और परात्परतत्त्व तीनों ब्रह्म की ही स्थितियां हैं। और स्थितियां होने के कारण तीनों ही नित्य हैं, व्यक्ति और जगत् भी उसी तरह जैसे परात्पर ब्रह्म। परंतु हम उन्हें तीन स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में कल्पित नहीं कर सकते। सत्ता अंत में अनिवार्य रूप से एक सुसंबद्ध और संगठित तत्त्व होना चाहिये। 'अनेकत्व' उस 'एकत्व' के ही आंतरिक संबंधों का विभेद हो सकता है। अद्वैत दर्शन प्रायः 'एकत्व'-विचार पर इतना मुग्ध हो जाता है कि 'अनेकत्व'

को वह मिथ्या कह देता है। अनद्वैत दर्शन 'अनेकत्व'-भाव से ऐसे प्रभावित होते हैं कि वे अंतिम सत्ता को ही खण्डित कर डालते हैं। वास्तव में, हम कह सकते हैं कि दर्शन का मूल उत्तरदायित्व अनेकत्व और एकत्व का समाधान ही है।

श्रीअरविन्द इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं। अनुभव के किसी भी क्षेत्र को, अनेकत्व को अथवा एकत्व को, मिथ्या कह देने के लिये तैयार नहीं। वे उनका उचित समाधान करना ही अपने दर्शन का ध्येय अंगीकार करते हैं। पूर्ण सत्ता एक है तथा व्यष्टि, समष्टि और परात्परभाव उसकी तीन स्थितियां हैं, यह उनके दर्शन का एक आधारभूत विचार है तथा अतिमानसिक स्तर के उच्च आध्यात्मिक अनुभव का तथ्य है। इसे हमें खूब समझ लेना चाहिये। उनके कुछ अपने शब्द इसमें विशेष सहायक होंगे। वे कहते हैं "जीवन के कर्मकलाप के साधारण विभाजन में व्यक्ति अपने आपको विश्व में समाविष्ट पृथक् सत्ता समझता है और दोनों को उसपर आश्रित समझता है जो विश्व एवं व्यष्टि से एकसमान अतीत है।... व्यष्टि तथा विश्व दोनों की अवमानना एवं अधोगति इस विभाजन का स्वाभाविक परिणाम है : परात्परभाव की उपलब्धि से संसार तथा व्यक्ति दोनों का लय, युक्तियुक्त रूप में, इसका सर्वोच्च परिणाम होगा।

"ब्रह्म की एकता का सर्वांगीण दृष्टिकोण इन परिणामों का वर्जन करता है। जैसे कि मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने के लिये हमें शारीरिक जीवन के त्यागने की आवश्यकता नहीं, ठीक

वैसे ही हम एक ऐसे दृष्टिबिंदु पर पहुँच सकते हैं जहाँ वैयक्तिक कर्मों को जारी रखना हमारी वैश्व-चेतनाविषयक अनुभूति तथा परात्पर एवं विश्वातीत की उपलब्धि से असंगत नहीं रहता। क्योंकि विश्वातीत विश्व का आलिङ्गन करता है, उससे एकीभूत है तथा उसका व्यावर्तन नहीं करता, वैसे ही जैसे कि विश्व व्यष्टि का आलिङ्गन करता है, उससे एकमय है तथा उसका व्यावर्तन नहीं करता। व्यक्ति संपूर्ण विश्वव्यापी चेतना का केन्द्र है; विश्व एक ऐसा रूप तथा परिभाषा है जो रूपरहित तथा परिभाषातीत की पूर्ण उपस्थिति से व्याप्त है।" (दि लाइफ डिवाइन, पहला भाग, पृ. ५७, ५८।)

ब्रह्म के इस विवेचन से व्यक्ति और जगत् को सार्थकता जरूर प्राप्त होती है। इससे श्रीअरविन्द की मुख्य स्थापना कि मानव के लिये जगत् में, पृथ्वी-तल पर ही, इहैव, दिव्य जीवन संभव है, हम समझ सकते हैं। निश्चय ही जब कि जगत् और व्यक्ति गुह्य रूप में ब्रह्म ही हैं तो प्रकट रूप में भी वे वही हो सकते हैं, जगत् और मानव जो आज मानसिक चेतना के प्रकाश को व्यक्त कर रहे हैं, वे अतिमानसिक स्थिति की ब्राह्मी चेतना को भी व्यक्त कर सकेंगे।

परंतु प्रश्न पैदा हुए बिना नहीं रहता कि जब सब कुछ ब्रह्म ही है तो फिर ऐसा अपूर्ण जगत् और ऐसा अज्ञानी मानव क्यों देखने में आते हैं? पूर्ण ब्रह्म के विचार के साथ इस अपूर्णता और अविद्या की भला कैसे संगति बिठायी जा सकती है?

यह प्रश्न मानव के चिंतन को सदा से आंदोलित करता आया है, क्योंकि यह, वास्तव में, मानव प्रकृति से ही संबद्ध है।

जगत् की सृष्टि का प्रश्न बड़ा जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर ढूँढ़ने के लिये हमें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा। पहले तो व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-निराशा के भावों को अलग करके विचारना होगा। दूसरे मानवमात्र के विस्तृततम अनुभव को

ध्यान में रखना होगा। जाग्रत अवस्था के व्यावहारिक जीवन के अनुभवों के अतिरिक्त तुरीयादि अन्य अवस्थाओं के अनुभवों को भी विचारना होगा। तीसरे हम जगत् के अर्थों की ही खोज कर सकते हैं, उसकी सार्थकता अनुभव करने का यत्न कर सकते हैं, हम यह नहीं कह सकते कि 'ब्रह्म ने इसे ऐसा क्यों बनाया, इससे और अच्छा क्यों नहीं बनाया?' ऐसी शंका की जड़ में मानव की प्राणिक इच्छा होती है जो उसे संतुष्ट होने ही नहीं देती।

जगत् और सृष्टि-क्रम को हम मिथ्या तो कह ही नहीं सकते। फिर ब्रह्म की पूर्णता को विचारते हुए हम जगत् की अपूर्णता को ब्रह्म के आत्म-संकल्प द्वारा आत्म-परिसीमन अथवा आत्म-विभाजन का ही परिणाम मान सकते हैं। जो असीम है उसमें सीमा होने की शक्ति भी माननी होगी। जगत् के विषय में विचार करते हुए हम पहले देख चुके हैं कि जड़, उद्भिज, पशु और मनुष्य में एक अनवरत क्रम है, एक विकास है। इस विकास में चेतना की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखायी देती है। परंतु अचेतन में से चेतन का विकास असंभव है। अतः हमें स्वीकार करना होगा कि जड़ प्रकृति, जो प्रत्यक्षतः अचेतन है, निहित रूप में जरूर चेतन होगी। यह प्राचीन औपनिषदिक विचार है जिसको न जानकर पश्चिमी वैज्ञानिक विकासवाद अनेक संकटों में पड़ गया। अब वह निहित चेतना ब्रह्म की आत्म-संकल्प द्वारा अणुओं-परमाणुओं में विभक्त और प्रसुप्त चेतना हो सकती है। इस प्रकार एक व्यापक अचेतना अथवा अवचेतना विकास-क्रम का आधार है। अणुओं-परमाणुओं की खण्डित अचेतना में से ही फिर धीरे धीरे नया संगठन होना शुरू होता है, उद्भिज बनते हैं, पशु बनते हैं, मनुष्य बनते हैं। मानव चेतना की स्थिति बड़े महत्त्व की है। इसमें एक विशाल संश्लेषण अथवा एकीकरण दिखलायी देता है, एक व्यक्तित्व की रचना मिलती है। परंतु

व्यावहारिक अहंमय है, यह एक अहं-इतर जगत् में सदा ही संघर्ष करता रहता है। इसकी, वास्तव में, यह दुविधामयी स्थिति एक उच्चतर, पूर्ण रूप में, एककीकृत, अवस्था का निश्चित संकेत देती है जो विकास-क्रम का भावी मार्ग दिखायी पड़ता है।

ऐसा प्रतीत होता है मानो विकास-क्रम ब्रह्म की ऐक्यपूर्ण चेतना की ओर बढ़ रहा है। यहां हमें, वास्तव में, दो क्रम दीखते हैं, विकास अथवा विवर्तन के साथ एक पूर्वगामी निवर्तन। निवर्तन द्वारा ब्रह्म जड़ प्रकृति की व्यापक अवचेतना में विभक्त और प्रच्छन्न हो जाता है और फिर विवर्तन द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-गवेषणा के क्रम से आत्म-लाभ करता जाता है। इसमें जो नए अनुभव का लाभ है वही आनंद की प्रेरणा है। ब्रह्म के संबंध में यह शंका संगत न होगी कि जो पूर्ण है उसे कुछ नया कैसे उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि जो पूर्ण है वह रचनाशीलता में न्यून कैसे हो सकता है।

इस प्रकार ब्रह्म की आत्म-अभिव्यक्ति में जगत् आत्म-प्रच्छन्नता, आत्म-गवेषणा तथा आत्मोपलब्धि का क्षेत्र है और व्यक्ति वह निश्चित विदु है जहां ये क्रियाएं कार्यान्वित होती हैं।

सृष्ट्युत्पत्ति के उपर्युक्त विचार के संबंध में मानव मन फिर भी शंका करेगा कि पूर्ण ब्रह्म ने जगत् का क्रम इस प्रकार निर्धारित क्यों नहीं किया जिसमें कि दुःख-ताप होता ही नहीं, भगवान् की आत्म-अभिव्यक्ति भी हो जाती और प्राणियों को भी कष्ट न होता। इसका उत्तर, वास्तव में, संभव नहीं। परंतु यह जरूर कहा जा सकता है कि यदि मानव अपने व्यावहारिक पक्षपातों को छोड़कर, उथली चेतना से हटकर, जरा अपने अंदर गहरी स्थिति से जगत् के उन्हीं सामान्य संपर्कों को अनुभव करके देखे तो वही उसे आनंदपूर्ण प्रतीत होंगे। एक आवरणमात्र के पीछे छिपा हुआ उसका जो वास्तविक अस्तित्व है वह आनंदमय है। फिर हम

यह भी देख सकते हैं कि दुःख मानव व्यष्टि और समष्टि का महान् शिक्षक है, उनके विकास का साधक है। व्यक्तिगत और उथली चेतना के दृष्टिकोण को जरा छोड़कर यदि हम जगत् को सार्वभौम सत्ता के रूप में विचारें तो हम काफी सुगमता से यह अनुभव कर पावेंगे कि दुःख एक गौण गति है। जीवन की प्रधान धारा आनंद ही है। आध्यात्मिक अनुभव तो जगत् को शुद्ध लीला बतलाता है। अतः अपूर्णता और अविद्या ब्रह्म में नहीं, वे मानव के अपने मानसिक स्तर की विकास-स्थिति के सापेक्ष धर्म हैं। उस स्तर को अतिक्रान्त कर जाने से वह उन्हें भी पार कर जायगा।

हमारी ब्रह्म की भावना प्रत्यक्ष ही सत्ता के कई स्तर कल्पित करती है। ब्रह्म जब कि पूर्ण होते हुए विकसनशील भी है तो चरम तत्त्व में न्यूनाधिक का भेद मानना होगा, सत्ता के क्रमिक स्तर स्वीकार करने होंगे। ये स्तर श्रीअरविन्द के अनुसार आठ हैं :-

१. जड़
२. प्राण
३. मन
४. अन्तरात्मा

५. अतिमन
६. आनंद
७. चित्
८. सत्

ये एक से आठ तक सीधे क्रम में विवर्तन के द्योतक हैं तथा आठ से एक तक उलटे क्रम में निवर्तन के। इनके अपने अपने धर्म को जानना तथा क्रमिक संबंधों को जानना संपूर्ण सत्ता को जानने में कितना सहायक होगा यह हमें धीरे धीरे ही पता लगेगा। यहां केवल इतना कहना आवश्यक है कि श्रीअरविन्द के दर्शन में इस विवेचन का विशेष स्थान है और उन्होंने इन सब स्तरों का गंभीर दार्शनिक तथा आध्यात्मिक निरूपण किया है। और इस व्योरे-वार निरूपण की सहायता से, वास्तव में, वे कई जटिल दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में अपूर्व रूप में सफल हुए हैं।

विकास-क्रम की वर्तमान सामान्य उच्चतम स्थिति मन है। परन्तु विशेष व्यक्तियों में इसका अतिक्रमण संभव हो पाया है। मानव इतिहास में ऐसे व्यक्ति लगातार मिलते हैं जिन्होंने अन्तरात्मा तथा इससे उच्चतर चेतना के स्तरों पर निवास किया है। अन्तरात्मा का स्तर मन के स्तर से निश्चित रूप में भिन्न है। जहां मन बहिर्मुख है, उथले रूप में रस गंध आदि संपर्कों का ग्रहण करनेवाला तथा द्वंद्वपूर्ण प्रतिक्रियावाला है, अन्तरात्मा, इसके विपरीत, अन्तर्मुखी है, वस्तुओं के गंभीर संपर्कों को खोजती है तथा सदा एकरस आनंद को अनुभव करती है। मन सदा व्यावहारिक रूप में प्रकृति-अभिमुख होता है। अन्तरात्मा स्वभाव से जगत् के आत्म-तत्त्व, भगवान् को खोजती है। यह, वास्तव में, भगवान् का ही अंश है, ऐसा अंश जो विकासप्रवृत्त है, जो मानव को चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर अंदर ही अंदर प्रेरित करता रहता है। अन्तरात्मा और आत्मा एक ही अस्तित्व के दो पक्ष हैं, एक गत्यात्मक और दूसरा शुद्धसत्तात्मक। यह श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक अनुभव की एक विशेष उपलब्धि है जो उनके सामान्य दार्शनिक विचार के साथ संगति रखती है। ब्रह्म में भी वे ये दो पक्ष मानते हैं और उनका कहना है कि यह ब्रह्म को केवलसत्तात्मक तत्त्व मानने का ही फल था कि जगत् को मिथ्या कहना पड़ा। ब्रह्म की पूर्णता की ही यह मांग है कि वह सत्तात्मक होने के साथ साथ गत्यात्मक भी हो। तभी जगत् उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति हो सकता है।

अन्तरात्मा से अतिमन तक विकास का लंबा मार्ग है जिसमें कई पड़ाव आते हैं और जिन तक अनेक व्यक्ति पहुंचे हैं। परन्तु अतिमन एक विशेष मार्मिक स्थिति है। उसमें मन का समूल रूपांतर हो जाता है, चेतना पूर्णतया एकीकृत हो जाती है; सत्य को धारण करती है; 'अनेकत्व' को यथार्थ

'एकत्व' में अनुभव करती है; मन, प्राण और शरीर अध्यात्ममयीकृत होकर अमरत्व अनुभव करते हैं, मर्त्य धर्म को अतिक्रान्त कर जाते हैं। अतिमानसिक स्थिति की कल्पना भी आज कठिन है, परन्तु वैदिक ऋषियों ने इसकी चर्चा की है। वे ऋत-चित्, सत्य-धारी चेतना, का ज्वलंत वर्णन करते हैं। अतिमन के स्तर का श्रीअरविन्द-दर्शन में विशेष स्थान है। अतिमन में ही अविद्या का विद्या में रूपांतर होता है। इसमें ही विकास के स्तरों का पूर्वार्ध उत्तरार्ध में परिवर्तित हो जाता है। जड़, प्राण, मन और अन्तरात्मा के अर्थ में विकास अविद्या की प्रक्रिया से होता है, अतिमन, आनंद, चित् और सत् में विद्या अथवा ज्ञान की प्रक्रिया से। अतिमन ही, वास्तव में, वह मार्मिक स्तर है जो जगदुत्पत्ति का पूरा समाधान करता है, क्योंकि वह शुद्ध ब्रह्म की एकता को और जगत् की अनेकता को एक सामंजस्य में उपस्थित कर देता है।

पश्चिमी विकासवादी भी बहुधा मानव के मानसिक स्तर को अंतिम मान लेते हैं। परन्तु यदि मन की स्थिति तक विकास दिखायी देता है तो कोई कारण नहीं कि मन से आगे भी विकास-क्रिया क्यों न चलती रहे। श्रीअरविन्द निश्चयात्मक रूप से कहते हैं कि अतिमन की अभिव्यक्ति जागतिक विकास का अगला लक्ष्य है। और क्योंकि मानव स्थिति में सचेतन विकास संभव हो जाता है अतः अब विकास-गति भी द्रुततर हो जानी संभव है। अतिमन की यह चरितार्थता ही, वास्तव में, मर्त्य-लोक में अमृतत्व की आशा और आश्वासन है, पृथ्वीतल पर दिव्य जीवन की संभावना है। दर्शन की खोज है व्यक्ति और जगत् के यथार्थ अर्थ और स्वरूप। मानव और जगत् दोनों ही अपने निहित रूप में ब्रह्म हैं, आत्म-सत्ता हैं। विकास-क्रम में यही निहित तत्त्व उत्तरोत्तर प्रकाश में आ रहा है। अतः मानव और जगत् में पूर्ण आत्मा का प्रकाश

र शरीर
रते हैं
तिमान-
हैं, परंतु
धे ऋत-
रते हैं।
विशेष
में रूपां-
पूर्वाधि-
ण, मन
द्या की
और सत्
मन ही,
मति का
ब्रह्म की
मामंजस्य
के मान-
रंतु यदि
तो कोई
या क्यों
रूप से
मागतिक
मानव
हैं अतः
वव है।
में, मर्त्य-
सन है।
। दर्शन
र्थ और
निहित
क्रम में
रहा है।
प्रकाश

संभव ही नहीं अपितु अनिवार्य है। मानव जो इस विकास का अग्रदूत है योग की सचेतन क्रिया से इसे अधिक बलपूर्वक गति दे सकता है। परंतु मानव की आरोहणात्मक गति की सहचारिणी अवरोहणात्मक एक दूसरी गति सदा ही साथ काम करती रहती है। जहां नीचे के स्तरों की निहित चेतना ऊपर उठने के लिये जोर मारती है वहां ऊपर के स्तरों की प्रस्फुट चेतना नीचे के स्तरों में आकर प्रकट होने के लिये यत्नशील रहती है। ये दोनों वैश्व प्रयत्न विकास को गति दे रहे हैं तथा वस्तुओं के निहित आत्म-रूप को प्रकट करने में संलग्न हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं, “आध्यात्मिक विकास,—सतत विकसनशील आत्म-रूपरचना में, जड़प्रकृति में चेतना का तब तक विकास जब तक कि रूप अन्त-र्वासी आत्मा को प्रकट न कर ले,—यह है ऐहिक अस्तित्व का प्रधान स्वर, केन्द्रीय अर्थपूर्ण हेतु।” (वही ग्रन्थ, दूसरा भाग, दूसरा खण्ड, पृ. ८०९।)

श्रीअरविन्द-दर्शन के संबंध में इस समय तक हमारा सारा विचार सामान्य तथा भूमिका-रूप रहा है। अब हम कुछ अधिक गंभीरता से दर्शन के निश्चित प्रश्नों पर विचार करना शुरू करेंगे। श्रीअरविन्द-दर्शन के चार प्रधान अंग कहे जा सकते हैं। सत्ता के तीन मौलिक भाव, व्यक्ति, विश्व और परात्परतत्त्व, उनका आधारभूत विचार है। इसी से उनके दर्शन के तीन अंग हो जाते हैं। एक

व्यक्ति, सांत सत्ता, पर विचार करता है। व्यक्ति-भाव के क्रमिक विकास की खोज करता है, मानव के स्वरूप को जांचता है, पुनर्जन्म, कर्मादि प्रश्नों के उत्तर ढूंढता और देता है। दूसरा विश्व-सत्ता की सार्वभौम अभिव्यक्ति पर विचार करता है। इसके सांत सत्ता तथा परात्परतत्त्व के साथ संबंध जोड़ता है। तीसरा परात्परतत्त्व की अनिवार्यता और विशेषता जतलाता है। पूर्ण सत्ता के स्वरूप का निरूपण करता है। वास्तव में इन तीन अंगों में सत्तासंबंधी सभी प्रश्न आ जाते हैं। इन तीन अंगों को हम अपने निरूपण में एक एक खण्ड देंगे और एक एक खण्ड में लगभग पांच पांच अध्याय होंगे। एक चौथा खण्ड इनके बाद और होगा जिसमें ‘ज्ञान’ के प्रश्न पर विचार किया जायगा। ज्ञान का स्वरूप, पूर्ण ज्ञान, मानवी ज्ञान, अविद्या, ज्ञान और सत्ता का संबंध आदि आदि प्रश्न इस खण्ड में आवेंगे।

हम लंबी यात्रा का संकल्प कर रहे हैं। परंतु यह वह यात्रा है जिसके लिये मानव हृदय सदा ही विशेष उल्लास मानता रहा है। सत्ता के रहस्यों की जिज्ञासा उसकी मौलिक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति उसमें कभी कभी कम हो जाने पर भी बार बार उठा करती है। यह उसकी अदम्य प्रेरणा है। उसी प्रेरणा से हम यहां प्रेरित अनुभव करते हैं और संसार के मूल रहस्यों को एक एक करके जानना चाहते हैं।

—इन्द्रसेन

हे कृष्ण !

१

क्या तू अब तक भी अपनी एकान्त कुटी में बैठा है ?

काल-विजयी, नित्यता की गोद में निश्चित, तू उस वेदना की पर्वाह नहीं करता प्रतीत होता जो वर्ष पर वर्ष बीतते जाने से तेरे पुजारियों को होती है ।

अभी और कब तक हमें रोना-धोना होगा ?

अतः आ, हे कृष्ण, आ । हे चिरप्रतीक्षित प्रियतम, अपनी ज्योति एवं अपनी शक्ति सहित आ ।

२

मातः ! क्या वह मेरे पास फिर नहीं आवेगा ?

मित्रो ! मुझे दोष न देना यदि मैं आगे से तुम्हारी चुलबुली बातचीत में सम्मिलित न होऊँ । मैं अपनी वैवाहिक वेषभूषा उतार फेंकूंगा और शेष जीवन भर अंधेरे कोने में रोता रहूँगा ।

जब गांव का जलूस गुजर रहा हो तब यदि मेरी आंखें कभी फिर भड़क उठें और मन उसके हर्ष में भाग लेने को इच्छुक हो तो हे मेरे हृदय ! यह गुनगुनाना कि कृष्ण अभी नहीं आया है ।

मातः ! वस अब मुझे बाजार में क्रयविक्रय के लिये मत भेजना । मेरे जीवन का और कुछ भी धंधा न हो—सिवाय उसके अनवरत चिंतन के ।

यदि मेरे जीवन का लक्ष्य कृष्ण को प्राप्त करना न हो तो कम से कम उसके लिये रोना तो अवश्य हो ।

उसकी मुसकान के प्रकाश से रहित यह अभागा जीवन मैं निपट अंधकार में बिताऊंगा ।

—शिवराम कृष्णन्



संपादकीय—

वर्तमान

अत्युक्ति न

कारी हो

और व्याप

नारे लगे

प्रगति बन

आज म

आह्लादित

तिनका त

चाहता है

मांग का

से, रुढ़िवा

है उसे ही

परिचित

है । परि

है, परंतु

लिये मां

और नय

समय में

व्यवहार

और वर्त

भविष्य

संघर्ष क

मनुष

असंतुष्ट

नहीं देते

से तुल

संपादकीय—

विचार और अभीप्सा

आध्यात्मिक क्रान्ति

वर्तमान समय को क्रान्तियों का युग कहना अत्युक्ति न होगा। 'क्रान्ति' शब्द ही आज क्रान्तिकारी हो रहा है। इसकी प्रेरणा कितनी प्रबल और व्यापक हो रही है! देश देश में इसके कैसे नारे लगे हैं! क्रान्ति, वास्तव में, एक सार्वभौम प्रगति बन गयी है।

आज मानव हृदय क्रान्ति से क्यों इस प्रकार आह्लादित हो उठा है? वह क्यों पुरातन से तिनका तोड़कर सर्वथा नया क्रम और व्यवहार चाहता है? इस सार्वभौम समूल परिवर्तन की मांग का वास्तविक अर्थ क्या है? मनुष्य, स्वभाव से, रूढ़िवादी अधिक है; जो वह अब तक करता आया है उसे ही करते जाना उसे अधिक रुचता है, वह उससे परिचित होता है, उसमें वह सुरक्षा अनुभव करता है। परिवर्तन और नवनिर्माण में जरूर आनंद होता है, परंतु पुरातन का सर्वथा वर्जन और नए मात्र के लिये मांग, ये असाधारण हैं। जो बिल्कुल अज्ञात और नया है उससे भय होता है। परंतु वर्तमान समय में मानव अपने सामान्य स्वभाव के विपरीत व्यवहार कर रहा है—वह असाधारण बल से भूत और वर्तमान का त्याग करके अजन्मे और अज्ञात भविष्य की मांग कर रहा है। उसके लिये घोर संघर्ष कर रहा है।

मनुष्य अपने भूत और वर्तमान से क्यों इतना असंतुष्ट हो गया है? वे ऐसे दोषपूर्ण तो दिखायी नहीं देते? यदि हम वर्तमान युग की अन्य युगों से तुलना करें तो अवश्य ही यह ऐसा बुरा समय

तो नहीं है। फिर क्या इस समय मानव के अंदर ही उन्नति के लिये विशेष आवेग पैदा हो गया है? —

कुछ आश्चर्य नहीं जो यह सार्वभौम उन्नति और समूल परिवर्तन का आवेग मानव विकास में युगान्तर का प्रतीक हो। इस आवेग का स्वरूप आश्चर्यजनक है, सर्वथा अपूर्व है। मानव ने अब तक भी सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में कैसे कैसे विशाल और महान् सर्जन किये हैं! पुरातन भारत ने किन किन आध्यात्मिक तथ्यों को खोज निकाला था! पुरातन चीन ने कैसी अपूर्व जीवनकला का निर्माण किया था! पुरातन मिश्रदेश और ईरान ने आश्चर्यजनक सांस्कृतिक विकास दिखलाया था! फिर अभी हाल में यूरोप ने भौतिक विज्ञान के चमत्कारों से सारे जगत् को प्रभावित कर लिया है। मानव का यह कैसा उज्ज्वल इतिहास है। परंतु फिर भी आज वह सर्वथा नया जीवन चाहता है, वह क्रान्ति चाहता है, वह क्रान्ति को अमर बनाना चाहता है, वह नारा लगाता है—Long Live Revolution—क्रान्ति अमर हो। और अधिक आश्चर्य की बात यह है कि क्रान्ति की यह भावना उन्नतिशील यूरोप की भूमि में से पैदा होती है और शीघ्र ही शेष जगत् में प्रतिध्वनित होने लगती है।

पर वास्तव में इस भावना ने उपलब्ध क्या किया है? क्या कहीं कोई वास्तविक क्रान्ति हुई भी, कहीं कुछ समूल परिवर्तन हुआ भी? कहीं यह तो नहीं हुआ कि मानव अपनी वास्तविक प्रेरणा से भटककर अनेक प्रकार के ऊपरी परिवर्तनों के लिये

संघर्ष करने लगा, सत्ता और शक्ति की प्रतिस्पर्धा का शिकार बन गया। वास्तव में, ऐसा देखने में आया है कि आज की क्रान्ति कल ही रुढ़िवादी क्रिया बन गयी, जिसे दूर करने के लिये फिर नयी क्रान्ति की आवाज उठने लगी। अवश्य ही पहली क्रान्ति वांछित क्रान्ति नहीं थी। क्रान्ति की भावना का स्वार्थरत नेताओं ने दुरुपयोग भी काफी किया है। ऐसी अवस्था में भी प्रतिक्रान्ति होनी ही ठहरी।

ऐसा प्रतीत होता है कि अब क्रान्ति पर क्रान्ति होती चली जायगी जब तक मानव की शायद जो मूलगत समूल परिवर्तन की भावना है उसे संतोष न प्राप्त होगा।

काश, हम उस मूलगत समूल परिवर्तन की भावना का यथार्थ स्वरूप जान सकते ! उसे जान पाते तो अवश्य ही हम उस वस्तु के लिये संघर्ष करते जिससे कि हमें पूरा संतोष मिलना है, तब हम व्यर्थ के चक्करों में न पड़ते।

मानवजाति की विकाससंबंधी मूलगत प्रेरणा को जानना विशेष आध्यात्मिक अधिकार की वस्तु है और यह वास्तव में हमारा अपूर्व सौभाग्य है कि श्रीअरविन्द ने इस संबंध में काफी स्पष्ट निर्देश किये हैं। उनका कहना है कि वस्तुतः वर्तमान समय मानव-इतिहास का एक अलौकिक अवसर है। अब मानव मनमात्र के भेदात्मक ज्ञान का अतिक्रम करके मानो अतिमन के सम्यक् ज्ञान की ओर एक नियमित कदम उठाना चाहता है। मन कभी सहायक था आज बाधा है, उसकी विशाल से विशाल रचनाएं असंतोष-जनक दिखायी देती हैं। मनमात्र से किसी उच्चतर चेतना-स्तर के लिये एक व्यापक परंतु अभी अज्ञात मांग पैदा हो उठी प्रतीत होती है—मन के प्रकाश से अधिक प्रकाश के लिये, मन के रस से अधिक रस के लिये, मन की शक्ति से अधिक शक्ति के लिये।

वर्तमान समय में मानव जीवन के लिये नए विधानों (new orders) की बहुत चर्चा होती

रही है। युद्ध के दिनों में हमने एटलान्टिक अधिकारपत्र (Atlantic Charter) की घोषणा सुनी थी। फिर युद्ध के उपरान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ का अधिकार-पत्र (United Nations Charter) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप में उपस्थित हुआ। प्रेजीडेंट रूजवेल्ट की चार स्वतंत्रताएं (Four Freedoms) भी एक नए विधान की ही कल्पना करती हैं। मौलिक मानवी अधिकार (Fundamental Human Rights) का विषय तो फ्रांसीसी क्रान्ति के युग से चला आ रहा है। फिर भी वर्तमान समय में इसपर कुछ विशेष ही विचार हुआ है। रूस का जीवन-विधान इन सबसे ही अलग है। ये सब अपनी अपनी जगह बहुत सुन्दर हैं। हम इनका स्वागत करते हैं। परंतु इनमें समूल परिवर्तन कहां है, क्रान्ति कहां है।

श्रीअरविन्द हमारे सभी उपायों को, चाहे वे क्रान्ति द्वारा प्रयोग में आवें अथवा सामान्य सहज गति से, सामयिक उपाय कहते हैं। उनमें वे समूल समाधान की कोई बात नहीं देखते हैं। बड़ी से बड़ी क्रान्ति उनके लिये एक तात्कालिक उपाय के सिवाय कुछ नहीं। उनका कहना है कि जब तक मानव चेतना का स्वरूप, जो इस समय विभक्त और अहं-मूलक है, रूपांतरित होकर समग्र और समष्टिमूलक नहीं हो जाता तब तक हमारे प्रश्नों का यथार्थ समाधान नहीं हो सकता, जब तक मानव में सर्वहित में निजहित देखनेवाली चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामंजस्य और परस्पर अनुकूलता साधित नहीं हो सकती। इसे ही दूसरे शब्दों में हम यूं कह सकते हैं कि जब तक मानव मन के स्तर से उठकर आत्मा के स्तर तक नहीं पहुंचता तब तक मौलिक परिवर्तन की चर्चा ही असत्य है।

आज हम नवनिर्माण की भी बहुत चर्चा करते और सुनते हैं। इससे सामान्यतया हमारा भाव प्रकृति की शक्तियों को अधिकृत करने का ही होता

है—नए बन्धन जहाज आदि निर्माण की प्रकाशित पुस्तकों में मंदिरों आदि के सब वास्तु मूलक्षेत्र स्वतंत्रता में हमें नवनिर्माण प्रमाणों से देखना चाहिए मानव जीवन में किंचित नवनिर्माण जब जड़ में हुआ था। नवनिर्माण विकास हो इसकी विकास की नहीं कहें क्रान्ति का आत्म-स्तर उससे जो आज अज्ञान को तैरकों को होने लगे दूर करके का उपभोग का निर्माण की एकता के पूर्वाभिसा महापुरुष

है—नए बन्ध, नई नहरें, नई सड़कें, नई रेलें, नए जहाज आदि बनाना। इससे आगे हम सांस्कृतिक निर्माण की भी चर्चा करते हैं। और उसे फिर प्रकाशित पुस्तकों की संख्या से, निर्मित भवनों और मंदिरों आदि से जांचने की कोशिश करते हैं। परंतु ये सब वास्तव में परिणाम हैं। नवनिर्माण का मूलक्षेत्र स्वयं चेतना है और वहीं, उस मूल स्थान में हमें नवनिर्माण को देख सकना चाहिये तथा बाह्य प्रमाणों से भी अन्तश्चेतना को ही जांचना और देखना चाहिये।

मानव व्यक्तित्व के अंगों में, शरीर, प्राण, मन में किंचित् अधिक विकास भी मौलिक क्रान्ति या नवनिर्माण नहीं कहा जा सकता। विकासक्रम में जब जड़ में से उद्भिज पैदा हुआ तब नवनिर्माण हुआ था। फिर जब प्राण में मन प्रकट हुआ था तब नवनिर्माण हुआ था। अब युगों से मन के अंदर विकास होता आ रहा है। पिछले ४०० वर्ष में इसकी विशेष रूप से उन्नति हुई है। परंतु इस विकास को श्रीअरविन्द के अर्थों में मौलिक क्रान्ति नहीं कह सकते हैं। अब मानव के लिये मौलिक क्रान्ति का अर्थ होगा विकासक्रम में मन से उठकर आत्म-स्तर को, अतिमन-स्तर को अधिगत करना। उससे जो क्रान्ति साधित होगी उसका स्वरूप भी आज अचिन्त्य है। श्रीअरविन्द कहते हैं मानव अज्ञान को पार कर ज्ञान को प्राप्त करेगा, मृत्यु को तैरकर अमृतत्व पर जा पहुंचेगा, क्षणिक इच्छाओं को छोड़ गंभीर स्थिर चित्-शक्ति से प्रेरित होने लगेगा। वह व्यक्तित्व के द्वंद्व और दुविधा को दूर करके समग्र जीवन के प्रकाश, आनंद और शक्ति का उपभोग करेगा। ऐसा मानव एक नए समाज का निर्माण करेगा जिसमें सर्वहित और निजहित की एकता सामान्य प्रत्यक्ष सत्य होगी। इस क्रान्ति के पूर्वाभास व्यक्तिगत रूप में इतिहास के अनेक महापुरुषों ने प्राप्त किये हैं और इसकी ओर सामू-

हिक प्रगति के लिये भी कई क्रमिक प्रयास हुए हैं और उन सबने जाति को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाया है। परंतु अब शायद सामूहिक विकास के निश्चयात्मक कदम का समय है। आज की व्यापक क्रान्ति-भावना तथा सार्वभौम उथलपुथल इसके कुछ संकेत प्रतीत होते हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि संसार में विरोध-भाव की यह असाधारण प्रचण्डता अपने आपमें विशेष दैवी क्रिया का परिणाम है। आज जो प्रकट होने को है वह छुपे छुपे तैयार हो रहा है। उसी से उत्तेजित होकर ही विरोधी शक्तियां उपरितल पर आकर उपद्रव मचा रही हैं। परंतु इसी उपद्रव और विनश में से अपूर्व नई रचना होगी। वह रचना ही अपूर्व महाक्रान्ति होगी। श्रीअरविन्द के एक पत्र के कुछ शब्द इस तथ्य के समझने में सहायक होंगे—“मैं जानता हूं कि यह तुम्हारे तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये कष्ट का समय है। यह सारे संसार के लिये ऐसा ही है। सभी जगह गड़बड़, दुःख, अराजकता तथा उलटापलटी—यही आज सब वस्तुओं की सामान्य अवस्था है। अच्छी चीजें जो प्रकट होने को हैं पदों के पीछे तैयार हो रही या विकसित हो रही हैं तथा बुरी चीजें सर्वत्र प्रबल हैं। एकमात्र आवश्यकता इस बात की है कि जब तक प्रकाश की घड़ी आ न जाय तब तक हम अडिग और अटल रूप से प्रयत्न में लगे रहें।”

श्रीअरविन्द ने अपने राजनीतिक कार्य के दिनों में, बंगभंग के आंदोलन के समय, लिखा था—“हमारा विश्वास है कि योग को मानवजीवन का आदर्श बनाना ही वह प्रयोजन है जिसके लिये आज भारत का अभ्युदय हो रहा है; योग से ही वह अपनी स्वाधीनता, एकता और महत्ता को अधिगत करने की शक्ति प्राप्त करेगा, योग से ही वह इन्हें सुरक्षित रखने की शक्ति अपने में बनाये रखेगा। ऐसी आध्यात्मिक क्रान्ति को ही हमारी भाविदृष्टि देख रही है, भौतिक क्रान्ति तो इसकी छाया और प्रतिबिम्ब मात्र है।”

उसके बाद श्रीअरविन्द अधिकाधिक आध्यात्मिक क्रान्ति के महत्त्व को अनुभव करते गये और अंत में उसी के संपादन में ही पूरी शक्ति से लग गये। उसी अपूर्व मौलिक क्रान्ति का कार्य उनके आश्रम की गंभीर शांति में धीरे धीरे परंतु विश्वासपूर्वक हो रहा है। जिस वास्तविक क्रान्ति और समूल परिवर्तन की मांग आज मानव अज्ञात रूप से कर रहा है उसे ही वहां साधित किया जा रहा है।

उस वास्तविक क्रान्ति का हम आवाहन करते हैं। वह सफल हो, वह अमर हो।

स्वाधीनता का एक वर्ष

१५ अगस्त से १५ अगस्त—एक पूरा वर्ष, स्वाधीनता, विशालता, उत्तरदायित्व और कष्ट का अद्भुत वर्ष; अचिंत्य विघ्न-बाधाओं, तीव्र चिंतन और नव रचना का विचित्र वर्ष; उत्तुंग आशाओं, निष्ठुर खिन्नताओं, विस्तृत योजनाओं और घोर संघर्षों का विकट वर्ष!

श्रीअरविन्द के भक्तों के लिये १५ अगस्त पहले से ही महान् तिथि थी। वे इसे उनके जन्मदिन के रूप में स्मरण करते थे तथा उनके व्यक्तित्व से संबद्ध प्रकृतिरूपांतर के अभूतपूर्व आध्यात्मिक कार्य के रूप में स्मरण करते थे। यह भारत की स्वाधीनता की भी तिथि हो जाने से उनके लिये और भी प्रामाणिक हो गयी है। सन् '४७ की १५ अगस्त ने अत्यंत ही विशेष रूप धारण कर लिया है।

उस दिन श्रीअरविन्द ने पांडिचेरी आने के बाद, लगभग ३७ वर्षों में, पहली बार देश और जगत् के संबंध में एक विस्तृत सा वक्तव्य दिया था। उसमें उन्होंने देश की दशा तथा उसके अनुसरणीय लक्ष्यों पर कुछ प्रकाश डाला था तथा उनकी प्राप्ति के लिये कुछ निर्देश किये थे। उस वक्तव्य को हम जितना स्मरण करें, उसके निर्देशों को जितना ध्यान में रखें तथा उनके अनुसार जितना हम कर्म करें

उतना ही हम देश का हित संपादित करेंगे। वह वक्तव्य जिस आध्यात्मिक स्थिति तथा जिस दृष्टि की वस्तु था वे उसे ठोस सत्य का रूप दे देती हैं। उसके पालन करने में प्रत्यक्षतः लाभ है और उसकी अवहेलना में ही हानि।

भारत अध्यात्म-प्रधान देश कहा और माना जाता है। इसकी सामान्य परंपरा ही हमें बतलाती है कि ऋषि, महात्मा और आत्म-ज्ञानी ही अपनी समबुद्धि द्वारा सत्य को जानने में समर्थ होते हैं। उन्हीं का ज्ञान यथार्थ होता है और ऐसा यथार्थ ज्ञान तथा सत्य ही रक्षा कर सकता तथा विजय दिला सकता है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह तथ्य भारतीय जीवन का काफी सामान्य धन था। इसी कारण राजा लोग अपने युद्धविग्रह तथा अन्य राजकीय विशेष विषयों पर तटस्थ योगियों-महात्माओं का पथप्रदर्शन प्राप्त करना चाहा करते थे। सामान्य जन भी उनके पथप्रदर्शन के महत्त्व को समझते थे और उससे लाभ उठाया करते थे।

मनुष्य की सामान्य बुद्धि अवश्य खूब शक्तिशाली वस्तु है। परंतु इसकी विशाल शक्ति भी बहुत सीमित है। यह स्वभाव से ही खण्ड खण्ड का विचार करती है, अनुमान लगाती और सदा ही थोड़ी बहुत शंकित रहती है। यह कभी समग्र स्थिति को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकती और न निश्चयात्मक तथ्य निर्धारित कर सकती है। पश्चिमी बुद्धिवाद के प्रभाव के अधीन तथा योगदृष्टि के अपेक्षाकृत लोप हो जाने से हमारी 'बुद्धि' से उच्चतर ज्ञान के लिये आज भावना ही कम हो गयी है। यह हमारी भावना फिर जाग्रत् होनी चाहिये और हमें यह पहचानना चाहिये कि देशों के इतिहास में ऐसी विषम स्थितियां बार बार आती हैं जिनमें एक प्रकार का निश्चय देश के लिये जीवन होता है और दूसरे प्रकार का मृत्यु। ऐसे निश्चय, यथार्थ रूप में, वह गंभीर दृष्टि ही करने में समर्थ होती है।

श्रीअरविन्द का गत १५ अगस्त का वक्तव्य आज हमें विशेष याद आता है और उसे ध्यान में रखते हुए हम स्वाधीनता के एक वर्ष का चिंतन करना चाहते हैं। १५ अगस्त से पहले के दिन अभी कल की सी बात हैं। उस समय हमारा एकमात्र लक्ष्य विदेशी शासन से मुक्त होना था। हमारी भावना यही थी कि एक बार हम स्वाधीन हो जायं फिर हमारा देश हमारे हाथ में होगा, हम उसे शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर ले जायेंगे। विदेशी शासन को दूर करना, अवश्य ही, उस स्थिति की प्रथम चीज थी, परंतु उसको छोड़कर बाकी सब कुछ हमें बहुत सरल और स्वाभाविक दिखायी देता था, इसका खेद हमें आज जरूर होगा। तब हममें एक ऐसी आशावादिता और आदर्शवादिता थी जो प्रायः नवयुवक का लक्षण होती है, परंतु प्रौढ़ व्यक्ति में देखने में नहीं आती। स्वाधीनता-दिवस आया और उसे हमने उचित समारोह से मनाया परंतु उस दिवस के साथ ही ऐसे प्रश्न आ उपस्थित हुए जिन्हें, आश्चर्य है, कोई पहले देख न सका था। सब दंग रह गये। पर देश ने बड़ी शक्ति और साहस के साथ उन अप्रत्याशित स्थितियों का सामना किया। सामना खूब किया और वह अब भी कर रहा है परंतु जो हुआ वह यह कि एक अप्रत्याशित स्थिति के बाद दूसरी पैदा होती गयी। हम असाधारण सावधानी से न्यायसंगत रहने का यत्न करते रहे परंतु उसका वांछित फल हमें न दिखा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वैसा ही अनुभव हुआ। जो जितने अधिक आदर्शवादी थे वे उतने ही निराश और खिन्न हुए। रचनात्मक कार्य, देश की आर्थिक दशा का सुधार तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान हमारे विशेष स्वप्न थे। उनके लिये न हमारे पास समय था न धन। फिर भी कुछ रचनात्मक कार्य हुआ और इस दिशा में सबसे बड़ा काम यह हुआ कि भारतीय चेतना ने काफी हद तक संघटित रूप धारण किया और वह

स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रक्षा और विकास के लिये चिंतन करने लगी। इस चेतना ने साल भर में जो अनुभव प्राप्त किये हैं वे मननयोग्य हैं।

अपनी वर्तमान चेतना का एक तथ्य हम आज विशेष रूप से अनुभव करते हैं। वह है अपेक्षाकृत खिन्नता। इस संबंध में हमें यह देखने की आवश्यकता है कि कहीं हमारी आशाएं और आदर्शवादिता तो इसकी जिम्मेवार नहीं हैं। यदि हम वस्तुस्थिति की भावना से—क्या होना चाहिये इस भावना से नहीं,—विषय को देखें तो हम स्वीकार करेंगे कि व्यक्ति, जाति और समाज की वर्तमान प्रकृति में स्वार्थपरायणता अधिक है। ये सब तुरंत के अपने मोटे लाभ ही विचारते हैं, विशालतर और विस्तृततर हितों के लिये भावना अभी इनमें नहीं। इससे अवश्य ही हमें स्थूल वास्तविकतावादी नहीं बन जाना होगा, परंतु अक्रियात्मक कोरे आदर्शवादी होना केवल निष्प्रयोजन ही नहीं बल्कि हानिकारक है। हमारी आदर्शवादिता को गंभीर जिज्ञासा बनना होगा, नवयुवक की जोशीली इच्छा और आकांक्षा न रहकर प्रौढ़ की संकल्प-शक्ति बनना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तथा देश-विभाजन से उदासीन होने की कुछ भी बात नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के संबंध में श्रीअरविन्द ने स्पष्ट शब्दों में अपने गत वर्ष के वक्तव्य में कहा था—“मानव संसार का एकीकरण प्रगति के पथ पर है। वहां एक अधूरा प्रारंभ संगठित किया गया है पर वह बहुत भारी कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। किंतु उसे वेग दिया जा चुका है और वह अनिवार्य रूप से बढ़ता चला जायगा और विजयी होगा। जो कुछ कार्य किया जा रहा है उसमें विपत्ति आ सकती है और वह विपत्ति उसमें बाधा डाल सकती है, किंतु तो भी अन्तिम परिणाम निश्चित है। क्योंकि एकीकरण प्रकृति की आवश्यकता है, अनिवार्य गति है।” अवश्य ही हमें इस

“अनिवार्य गति” को मन में रखते हुए वास्तविकता-पूर्ण समझ-बूझ से मानवजाति के सामूहिक विकास के लिये यत्नशील रहना होगा। देश-विभाजन के विषय में भी उदासीनता उत्कट आशा की खिन्न अवस्था ही कही जायगी। इस संबंध में श्रीअरविन्द की दृष्टि बहुत स्पष्ट है और वह हमारी पथप्रदर्शक है। वे कहते हैं “यह आशा करनी चाहिये कि इस तै किये गये विभाजन को ऐसा नहीं मान लिया जायगा कि यह सदा के लिये निर्णीत हो गया है या यह कि यह एक अस्थायी उपाय से अधिक, अतिरिक्त कुछ है। चाहे किसी भी उपाय से हो, चाहे किसी भी प्रकार से हो, विभाजन अवश्य हटना चाहिये, एकता अवश्य स्थापित होनी चाहिये और होगी।” वेशक, ठीक इसी समय में, इन लक्ष्यों के अनुकूल यद्यपि कुछ भी दिखायी न दे रहा हो फिर भी लक्ष्य लक्ष्य के रूप चित्त में स्थिर रहने ही चाहियें और स्थिति के अनुसार उनके लिये यत्न भी निरंतर किया ही जाना चाहिये।

इन दो निर्देशों के अतिरिक्त श्रीअरविन्द ने अपने वक्तव्य में तीन और निर्देश किये थे। एक यह है कि एशिया पुनः संगठित होकर संसार में उस सम्मान के स्थान को प्राप्त करेगा जो पहले इसे कभी मानव सभ्यता और संस्कृति के नाते प्राप्त

था। दूसरे यह कि भारत ने संसार को आध्यात्मिक ज्ञान देना है, सामान्य मानव जीवन को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करनी है। तीसरे यह कि मानव-चेतनामात्र ने अपने अहंमय खण्डित रूप से उठकर समग्र और सार्वत्रिक रूप को प्राप्त करना है, मानव-चेतना ने दिव्य चेतना बनना है। ये निर्देश, वास्तव में, इच्छाएं या आकांक्षाएं नहीं बल्कि जीवन-विकास की आत्म-दृष्टि में देखी हुई अनिवार्य गतियां हैं। अवश्य ही हम इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते, वरन् इन्हें हृदय से ध्येय स्वीकार करके इनके लिये हमें सदा ही यथासंभव यत्नशील रहना चाहिये। ऐसा करते हुए यदि हम यह भी स्मरण रखें कि ये लक्ष्य, वास्तव में, उस व्यापक चेतना के लक्ष्य हैं जो जगत् को धारण किये हुए है तथा उसे चला रही है तब तो बात ही क्या है। हम भगवान् के यंत्र बनकर काम करेंगे, अनावश्यक रजोगुणी हर्ष और शोक के आवेगों से मुक्त रहेंगे और सदा सफल ही होंगे, उस मार्ग में विफलता-होती ही जो नहीं।

ये निर्देश हमारी आज की स्थिति के लिये श्रीअरविन्द के निर्भ्रांत आदेश हैं। ये आध्यात्मिक अनुभूतियां हैं, अन्तर्दृष्टि के तथ्य हैं। प्रभु, हमें साहस और विवेक दें कि हम इनका अनुसरण कर सकें।

—इन्द्रसेन



Letter

विन्द आश्रम

२४ नव

दिन है।

इसी दिन क

का आधार

विन्द आश्रम

दिन सिद्धि

कार्य का प्र

एकान्त में

संगठन औ

उससे प

विन्द के स

रहते थे।

भर के लि

नियत-सा

अरविन्द ए

रहा। परं

संबंध का

अनुभव, उ

अध्ययन

साहित्य, व

से निवेदन

देते। इस

करते औ

इस प्र

के पूरे रू

इसका प्र

विभिन्नता

के बाकी

विषयों व

साधना,

मानव-वि

भागवत

आदि क

कठिन है

साहित्य-परिचय

Letters of Sri Aurobindo (श्रीअर-विन्द आश्रम, पांडिचेरी)। मूल्य ६)

२४ नवम्बर १९२६ एक विशेष आध्यात्मिक दिन है। यह श्रीअरविन्द का सिद्धि-दिवस है। इसी दिन की उपलब्धि ही उनके आध्यात्मिक कार्य का आधार है। उसी दिन से, वास्तव में, श्रीअरविन्द आश्रम स्थापित हुआ माना जाता है। जिस दिन सिद्धि प्राप्त हुई, उसी दिन से आध्यात्मिक कार्य का प्रारंभ हुआ तथा उसी दिन ही श्रीअरविन्द एकान्त में चले गये और श्री माताजी ने आश्रम के संगठन और संचालन का भार संभाला।

उससे पहले तक, जो २०-२५ व्यक्ति श्रीअरविन्द के साथ रहते थे, वे उनसे मिलते-जुलते ही रहते थे। विशेषकर सायं के समय तो लगभग घंटे-भर के लिये, जो वार्तालाप और ध्यान के लिये नियत-सा था, वे उनसे मिला ही करते थे। जब श्रीअरविन्द एकान्त में चले गये तब वह अवसर जाता रहा। परन्तु शीघ्र ही उसके स्थान पर एक नया संबंध का साधन बन गया। साधक लोग अपने अनुभव, अपनी कठिनाइयां, अपनी शंकाएं, अपने अध्ययन के दस प्रकार के बौद्धिक प्रश्न-दर्शन, साहित्य, कला आदि-संबंधी-पत्र द्वारा श्रीअरविन्द से निवेदन करते और वे उनका विस्तारपूर्वक उत्तर देते। इसके लिये श्रीअरविन्द प्रतिदिन कई घंटे दिया करते और यह क्रम ८-९ वर्षों तक चलता रहा।

इस प्रकार एक विस्तृत साहित्य पैदा हो गया जिस के पूरे रूप-स्वरूप की कल्पना करना भी कठिन है। इसका प्रमाण बहुत बड़ा है और इसके विषयों की विभिन्नता अत्यंत विपुल। पत्र-साहित्य श्रीअरविन्द के बाकी सब साहित्य के बराबर होगा, कम नहीं। विषयों की दृष्टि से इसमें दर्शन, योग, व्यक्तिगत साधना, कविता, सौन्दर्यानुभव, भारतीय संस्कृति, मानव-विकास, योरूपीय युद्ध, मानवीय प्रेम तथा भागवत प्रेम, वर्नड शॉ, विज्ञान, बुद्धिवाद आदि-आदि क्या कुछ है, इसकी गिनती करना कठिन है।

पत्र-साहित्य का एक निजी स्वभाव होता है। पत्र में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप में कुछ कहता है। इसमें निकट संपर्क का वातावरण होता है तथा बातचीत की शैली होती है। पत्र पुस्तक की अपेक्षा सदा अधिक सरल होता है। वह विषय जो The Life Divine में समझ ही न आ रहा हो पत्र में साफ हो जाता है। फिर इन पत्रों में श्रीअरविन्द-सामीप्य का जो वातावरण है वह एक अपूर्व अनुभव है। इन्हीं कारणों से शायद आश्रम में आनेवाले सज्जनों के लिये पत्रों को खोजना और उन्हें मांगकर पढ़ना विशेष जिज्ञासा का विषय रहा है।

इसी विस्तृत पत्र-साहित्य में से खण्ड-खण्ड संकलित करके कई एक पुस्तकों का निर्माण और प्रकाशन हो चुका है। जैसे, योग के आधार, योगप्रदीप, इस जगत् की पहली आदि। इन सबमें विषय की दृष्टि से पत्रों में से खण्डों और स्थलों का संचय कर लिया गया था। समूचे पत्र कहीं कम ही दिये गये हैं। अभी हाल में पहली बार बम्बई के श्रीअरविन्द-केन्द्र के पुरुषार्थ से एक पत्रों का संकलन Letters of Sri Aurobindo के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसका संपादन श्री किशोर गांधी ने बड़ी योग्यता से किया है। यह प्रकाशन श्रीअरविन्द के पत्र-साहित्य का प्रथम पुष्प है। इसमें इस साहित्य का अंशमात्र ही जिज्ञासुओं को प्राप्य हुआ है और हम आशा करते हैं कि इसके अनुवर्ती पुष्प उत्तरोत्तर प्रकाशित होते चले जायेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक ४१६ पृष्ठों के प्रमाण में १२६ छोटे बड़े पत्रों को उपस्थित करती है। ये पत्र विषय की दृष्टि से ८ अध्यायों में विभक्त हैं और वे निम्न प्रकार हैं:-

१. विकास : भौतिक, आध्यात्मिक, अतिमान-सिक।

२. भगवान् के पास पहुंचने के उपाय, एकांगी, सर्वांगीण।

३. योग, इसकी मूल-भावना तथा क्रम।
४. पूर्ण चेतना के अंग।
५. योग के अलौकिक दर्शन (Visions)।
६. प्रेम-मानवीय, भागवत।
७. मार्ग की कठिनाइयाँ।
८. विज्ञान, तर्क, योगिक अनुभव, अवतार और प्रतीक, योग-शक्ति, सौन्दर्य और कला इत्यादि।

इस पुस्तक के बहुत से पत्रों का हिन्दी अनुवाद पहले ही अदिति में प्रकाशित हो चुका है। 'श्रीअरविन्द के पत्र' हमारा स्थायी स्तम्भ है। इसमें लगातार ही और पत्र प्रकाशित होते रहेंगे और फिर यथा-समय वे पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हो जायेंगे। हमें आशा है पाठक श्रीअरविन्द के इस अपूर्व पत्र-साहित्य से खूब आनन्द लाभ कर रहे होंगे अथवा करेंगे।

—इन्द्रसेन

साहित्य-समीक्षा

प्रतीक, द्वैमासिक साहित्य-संकलन, १४, हेस्टिंग्स रोड, इलाहाबाद। मूल्य, वार्षिक ग्राहकों के लिये ९), एक संकलन का १।)

संपादक :— सियाराम गुप्त, नगेंद्र, श्रीपतराय, स० ही० वात्स्यायन।

यह नया पत्र उच्च साहित्यिक रचना तथा सांस्कृतिक मूल्यांकन की भावना से प्रेरित होकर प्रकट हुआ है। यह साहित्य को राजनीतिक मतवादों की परिचारिका (handmaid) नहीं बना देना चाहता, जैसा कि आज बहुधा दिखायी देता है। साहित्य, निश्चय ही, "कहीं अधिक मौलिक, संयत और शक्तिपूर्ण उद्योग मांगता है।" परंतु यह साहित्य को आकाश-बेल भी नहीं बना देना चाहता। "अधुनातन जीवन और साहित्यिक परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करना" इसका उद्देश्य है।

प्रतीक साहित्य का अन्य कलाओं के साथ विशेष रूप से सामंजस्य चाहता है और हिन्दी साहित्य का हिन्दीतर भारतीय और विदेशी साहित्यों के साथ आदान-प्रदान बढ़ाना चाहता है।

ये सब उद्देश्य प्रतीक के घोषित आदर्श हैं और, प्रत्यक्ष ही, ये बहुत विशाल और सुन्दर हैं। हम हृदय से इनकी सफलता चाहेंगे।

प्रतीक के पहले अंक में श्री वात्स्यायनजी ने 'संयोजना' के अधीन पत्र की साहित्यिक भावनाओं को और खोलकर लिखा है। आप वहां एक "सत्साहित्य" की चर्चा करते हैं और कहते हैं—"हम उसी गंभीरतर, अधिक स्थायी, अपेक्षया अधिक

महत्त्वपूर्ण जीवन के गहनतर स्तरों को उज्ज्वलतर आलोक से विशदतर रूप में प्रतिभासित करनेवाले साहित्य के खोजी हैं।" वहीं का उनका एक और वाक्य भी हमें विशेष प्रिय लगा है। वे कहते हैं "प्रगति प्राचीन मर्यादाओं को भीतर से प्रसृत करके उदार बनाने में है, परंपराओं के खंडन में नहीं बल्कि मंडन और उन्नयन में है।" यह, निश्चय ही, बहुत गंभीर और अपूर्व निरूपण है।

हमने प्रतीक के छठों अंकों को जहां-तहां पढ़ा है। इसके लेखक सुपरिचित साहित्यिक हैं तथा लेख अधिकांश में गौरवपूर्ण रचनाएं हैं। वात्स्यायनजी ने प्रगति की व्याख्या करते हुए एक मौलिक सत्य को जतला दिया है। वह सत्य, वास्तव में, बहुत व्यापक है। समाजोन्नति से अधिक वह व्यक्ति के विकास का नियम है। मानव अभी इतना बहिर्मुख है, स्थूल परिणामों में ग्रस्त है, कि 'भीतर से' के दिशा-संकेत में भी आज क्रान्ति दिखायी देती है। परंतु, वास्तव में, व्यक्ति जब भीतर की ओर मुख करके जरा प्रवेश करने का यत्न करता है तो वह भीतर में उत्तरोत्तर गुह्य से गुह्यतर आसन और स्तर अनुभव करता है। यथार्थ विकास के अनुसार चलता हुआ, वह एक समय भीतर और बाहर के द्वन्द्वात्मक भेद को अद्भुत समन्वय में अनुभव करता है। सारे जीवन को अपने आपमें स्वभाव और स्वधर्म का चेतन अन्तःसंगठन अनुभव करता है और 'बाहर' उसकी देश-काल में क्रमित अभिव्यक्ति। तब वह अपने आपको एक खण्ड-वस्तु भी अनभव नहीं करता। वह अपने आपको

यार्थ रूप
नुभव कर
जीवन के
वचन के
पूर्व प्रकाश
शक्ति होगी
स्वाभाविक
और बाहर
पस्थित व
जहां अंश
कर साहित्य
अर-वर्धक
भाव की एव
और गृहीत
'सत्साहि
उपर्युक्त
सत्साहित्य
और इस
उद्देश्यों
हमें
लिये ए
स्थित करे
चाहते हैं।
स्त्रियों
धिकार,
श्री रज
हैं। श्रीअ
भी हैं। अ
दोनों का
श्री रघु
भावनालय
लिखते हैं

नुवाद पहले श्रीअरविन्द जी के द्वारा किया गया था।

जीवन के इस तथ्य को यदि हम पूर्णता में लाना चाहें तो हमें साहित्य के उद्देश्य, साहित्यिक चरित्र के स्वरूप आदि अनेक आधारभूत प्रश्नों पर विचार करना पड़ेगा। सच्चा साहित्य सहज अभिव्यक्ति होगी, क्योंकि आत्माभिव्यक्ति हमारे अन्तर्गत ही स्वाभाविक गति है। ऐसा साहित्य सहज ही अंदर और बाहर में, आदर्श और वास्तविकता में, समन्वय प्रस्थापित करेगा, क्योंकि यह प्रेरित ही वहां से होता है जहां अंदर और बाहर मिलकर एक हो जाते हैं।

साहित्यिक रचना, वास्तव में, व्यक्ति की अहंकार-वर्धक 'रचना' नहीं होगी बल्कि उसके अपूर्व स्वाभाव की एक मौलिक ग्रहण-क्रिया (receptivity) द्वारा ग्रहीत वस्तु की मौलिक अभिव्यञ्जना। 'सत्साहित्य' के ये मंतव्य, हमारे विचार में, प्रगति और उपर्युक्त लक्षणों में निहित हैं। कम से कम सत्साहित्य के आदर्श की हमारी भावना यह है। और इस भावना के काफी स्पष्ट संकेत हमें प्रतीक उद्देश्यों, 'संयोजना' तथा लेखों में दिखायी दिये हैं। हमें आशा है कि प्रतीक साहित्यिक जगत् को लिये एक नया और सच्चा आदर्शमान उपस्थापित करेगा और हम इसकी हृदय से सफलता प्राप्त करेंगे।

—इन्द्रसेन

स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार, लेखक—पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति।

श्री रजनीकान्त मोदी—आप श्रीअरविन्द के भक्त हैं। श्रीअरविन्दसाहित्य से खूब परिचित हैं। कवि भी हैं। आपकी "तेरी कृपा" में दर्शन और कविता दोनों का रस मिलता है।

श्री रघुवीरशरण—आप 'कल्पवृक्ष' के आध्यात्मिक साधनालय के साधक हैं। आप एक पत्र में हमें लिखते हैं "श्रीअरविन्द के योग का मैं भी अपनी

प्रकाशक— सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा। मूल्य १।), आकार कौन, पृष्ठ २३६।

पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय पुस्तक के नाम से ही सुस्पष्ट है। इसमें गुरुकुल कांगड़ी के प्रतिष्ठित स्नातक, विद्वान् लेखक ने योग्यतापूर्वक वेद, ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति तथा अन्य साहित्य से पुष्कल प्रमाण देकर स्त्रियों का अधिकार अच्छी तरह प्रमाणित किया है। वर्तमान काल में जिस सत्य के प्रवाह की ओर साधारणतया हमारा समाज उन्मुख हो रहा है उसमें स्त्रियों को पुरुष जैसे अधिकार देने जैसी बातों के लिये स्वयं ही प्रवृत्ति है, तो भी बहुत से रुढ़िप्रिय तथा शास्त्रवचन का सहारा लेनेवाले लोग उस सत्य का दबाव अनुभव करते हुए भी उसे मान लेने को ऐसे ही उद्यत नहीं होते हैं। ऐसे लोगों की मानसिक बाधा दूर करने का कार्य यह पुस्तक कर सकती है और करेगी। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत समयोपयोगी है। वास्तव में भारत के प्राचीन धर्म ने तो कभी भी स्त्रियों को किसी प्रकार नीचा नहीं माना था। वहां शक्ति-रूपिणी स्त्री को बराबर का ही नहीं किंतु एक विशिष्ट स्थान दिया गया था। आजकल दिखायी देनेवाला स्त्रियों के प्रति अवगणना का भाव हमारे इस देश में बहुत पीछे की उपज है जो कि भारत की प्राचीन और मुख्य संस्कृति-धारा के प्रतिकूल है। सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा की तरफ से ऐसी पुस्तक का प्रकाशन होना ठीक उसके अनुरूप ही कार्य है।

—अभय

लेखक-परिचय

तुच्छ शक्ति के सहारे अनुसरण करने की कोशिश कर रहा हूं। उनके योग और दर्शन ने मेरा जो उपकार किया है वह अवर्णनीय है।" प्रभु आपको धैर्य और साहस दें, सफलता प्राप्त होगी ही। आपकी भावनाओं की प्रतिरूप एक कविता इस अंक में प्रकाशित हो रही है।

वेद-रहस्य

श्रीअरविन्द के तीन महान् ग्रन्थों—The Life Divine, The Synthesis of Yoga, The Secret of the Veda—में से तीसरे का यह अनुवाद है। प्रताप-निधि की आयोजना द्वारा श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस में छप रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा।

अनुवादक श्री आचार्य अभयदेवजी हैं। पुस्तक का दाम लगभग १०)रु. होगा। पहले सूचना आ जाने से ग्रन्थ तैयार होते ही भेज दिया जायगा।

पत्र-व्यवहार श्री अभयदेवजी, श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सर्कस, पोस्ट बाक्स ८५, नई दिल्ली तथा अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी से किया जा सकता है।

पांडिचेरी नी पराग

कच्छी और गुजराती भाषा में श्रीअरविन्द और श्री माताजी के प्रति भक्तिभाव-पूर्ण चालोस पदों की अपूर्व पुस्तक है। इसीके दो पद रिकार्ड में भी भरे गये हैं।

लेखक :—

भक्त कवि श्री शिवजी भाई देवसिंह

प्रसिद्ध-नाम

श्री मगन बाबाजी

मूल्य १० आने

बुंवर जी देवशी एण्ड को०, १६४, लोहार स्ट्रीट, बम्बई नं० २

यह "श्रीअरविन्द के योग पर अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह" हाल में ही प्रकाशित हुआ है। इसके कुछ एक लेख ये हैं—जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के ही हैं। मूल्य २॥)

योगदीक्षा

यह श्री अनिलवरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५ व ४६ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम प्रति सेट ५)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १॥)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

चार साधन ॥)	इस जगत् की पहेली १)
योगविचार २॥)	जगन्नाथ का रथ ॥)
विचार और झांकियां ॥)	श्रीअरविन्द के पत्र ॥)
दयानन्द ॥)	धर्म और जातीयता १॥)
नये वर्ष की प्रार्थनायें १)	गीता की भूमिका १॥)
दुर्गास्तोत्र १)	श्रीअरविन्द का आश्रम
अदिति माता १)	और उनकी शिक्षा १)
गीताप्रबन्ध ६॥)	मातृवाणी २॥)
माता ॥)	सर्वोत्तम आविष्कार १=)
योगप्रदीप ॥)	वार्षिक प्रार्थनायें २=)
योग के आधार २॥)	श्रीअरविन्द और उनका योग . . ॥=)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण १=)	पूर्णयोग १॥)

फोन:
कार्यालय
८२८३

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नयी देहली
(स्थान—एस. एन. सैंडर्सन एण्ड को.)

फोन:
घर
२५१८

